हम लौटेंगे वहीं

सम्पादक

महाराज कृष्ण संतोषी



प्रकाशक

कश्मीरी भाषा एवं संस्कृति प्रतिष्ठान

(सम्प्रति)

अम्बफला, जम्मू

आदर सहित

डॉ मनमोहन शर्मा कौशिक

हम लौटेंगे वहीं

कश्मीर के हिन्दी लेखकों की रचनाओं का एक प्रतिनिधि चयन

सम्पादक:

महाराज कृष्ण संतोषी

प्रकाशक:

कश्मीरी भाषा एवं संस्कृति प्रतिष्ठान

(सम्प्रति)

अम्बफला, जम्मू

संस्करण 2009

मूल्य : 250/–

मुद्रक : जंडियाल प्रिंटिंग प्रेस, महिन्दर नगर,
नहर रोड़, जम्मू दूरभाष : 0191– 2553140

Ham Lootteengee Vahiin

Editor :
Maharaj Krishan Santoshi
Publisher
Kashmiri Bhasha evam Sankriti Pratishtan
SAMPRATI
Ambphalla, Jammu.

दो शब्द

विस्थापन और निर्वासन एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। यूं तो निर्वासन का सीधा अर्थ 'देश निकाला' से है लेकिन साहित्य में निर्वासन बोध अनेक आयामों के साथ अभिव्यक्त होता है।

साहित्यकार समाज और जीवन का गहन अध्ययन करता है और वह इन से गहरे रूप में जुडा रहता है जो उसे जीवन के प्रति एक नई दृष्टि देता है। समाज और जीवनोन्मुखी होकर भी लेखक एकांत प्रिय होता है– भीड के कोलाहल से निरंतर दूर भागता हुआ। इस दृष्टि से देखें तो वह सत्त निर्वासन भोगता रहता है पर यह निर्वासन एच्छिक होता है और इस के कारण निजी होते है। पर जब बाहरी कारणों से सिर्फ एक नहीं, दो नहीं, पूरा समुदाय ही अनिकेत हो जाता है और अपनी मातृभूमि से निष्कासित किया जाता है तो उस समाज का कोई भी जागरूक और सम्वेदनशील रचनाकार इस त्रासदी से अपने को अलग नहीं रख सकता। वैसे कश्मीर के परिप्रेक्ष्य में विस्थापन या निर्वासन को लेकर काफी भ्रम है। कुछ लोग इन अनिकेत लोगों के बारे में यह प्रचार करते रहते हैं कि यदि वे अपने ही राज्य में या अपने ही देश में रहने लगे हैं तो फिर कैसा निर्वासन कैसी जलावतनी। लेकिन उन से कहे कोई कि अपने ही देश में शरणार्थी बन कर एक असुरक्षित जीवन जीना क्या कोई त्रासदी नहीं। शायद वे जानबूझ कर नहीं समझना चाहते – विशेषकर छद्म प्रगतिशील कहलाए जाने वाले तथा–कथित बुद्धिजीवी। दरअसल हम ऐसे लोग है जो एक साथ ही विस्थापित भी हुए हैं और निर्वासित भी। इस सदंर्म मे एक और महत्वपूर्ण

बात की ओर संकेत करना चाहता हूं कि विचारधारा की आढ में सच के साथ खिलवाड किया जाता रहा है। कश्मीर से निर्वासित हुए लोगों को इस का प्रत्यक्ष और भयंकर अनुभव है। उन्हें एक पार्टी विशेष का अनुयायी मानकर उन के दर्द को कम करके देखने का प्रयास किया गया है। कश्मीर से निर्वासित रचनाकारों तथा संस्कृति कर्मियों ने अपने अपने माध्यम से इस का विरोध किया है। सम्प्रति ऐसे ही लोगों का एक खुला मंच है जो अपने प्रयासों से अधिकाधिक लोगों तक 'तस्वीर का असली चेहरा' प्रस्तुत करता चाहता है। इस संस्था के प्रयासों में एक सीधापन है जो मानवीय सरोकारों से जुडा है। इस के अन्य सरोकार कश्मीर के इतिहास, उस की संस्कृति, कला तथा साहित्य से सम्बद्ध है। इस ने विभिन्न भाषाओं में लिखने वाले लेखकों को एक किया है और उन के साहित्य को एक सशक्त दिशा दी है।

प्रस्तुत संकलन इसी दिशा में एक और प्रयास है। इसके पीछे हमारा उदेश्य यह भी रहा है कि पूरे हिन्दी जगत तक कश्मीर के हिन्दी लेखकों का वह रचनात्मक साहित्य भी सामने आए जो निर्वासन की पीडा झेल रहे हैं। कश्मीरी भाषा में हम पहले ही ऐसे कई संकलन प्रकाशित कर चुके है लेकिन हिन्दी भाषा में यह हमारा प्रथम प्रयास है।

पूरे हिन्दी जगत में इस का स्वागत होगा, इस की उम्मीद करता हूं

विनीत
डॉ आर॰ एल॰ भट्ट
अध्यक्ष
कश्मीरी भाषा एवं संस्कृति प्रतिष्ठान
जम्मू।

हिन्दी में निर्वासन सहित्यः संदर्भ कश्मीर

19 जनवरी 1990 कश्मीरी पंडितों के लिए निष्कासन का मुहूर्त प्रमाणित हुआ। यह वह दिन था जब धार्मिक कट्टरता अपने भयंकर रूप में सामने आई और परस्पर विश्वास की धज्जियां उड़ गई। इस धार्मिक आतंक का चित्र कवि अग्निशेखर ने इस तरह चित्रित किया है।

"फैल रहा है बर्फानी ढंड में शोर
हमारी हड्डियों की सुरंग में
घुसने को मचलता हुआ।
गालियां, कोसनें, धमकियां
कितना कुछ सुन रहे है हम
तहखाने में कोयले की बोरियों के पीछे
छिपाई गई मेरी बहनें
रोने विलखने लगे है मुहल्ले में बच्चे
होंठ और किवाड़ दोनों बंद है
बाहर कोई भी निकले
शब्द या आदमी
दोनों को खतरा है।

ऐसा पहली बार नहीं हुआ है। कश्मीर का इतिहास ऐसी त्रासदियों से परा पड़ा है।

धर्म की आढ़ में हजांरों लोगों का संहार हुआ है और जान बचाने के लिए सय्य निर्दोष लोगों को बेवतन होना पड़ा है। धर्मान्धता का यह भूत कई शताब्यिों से आरम्भ हुआ है। चौदहवी शताब्दी में सिकन्दर बुताशिकन ने जो धार्मिक जनून दिखाया, उस ने लोगों के समाने सिर्फ तीन विकल्प रखें :

1. इसलाम धर्म में दीक्षित होना

2. मौत

3. देश निकाला।

इन तीनों में एक को चुनने की स्वतंत्रता देकर धर्मांध राजा ने कश्मीरिमत का वह ताना बाना नष्ट किया जो यहां की सांस्कृतिक जलवायु की विशेषता थी। यहीं से प्रचीन सांस्कृतिक विरासत को नष्ट करने की विधिवत शुरूआत हुई। कश्मीर को दारूल इसलाम में परिवर्तित करने के उद्देश्य से संस्कृत ग्रंथों के विशाल भंडार ध्वस्त कर दिए गए। इस का संकेत श्रीवर ने राजतरगिनी में यूं दिया हैं

'किमन्यद् द्विजव्द देशे सर्वेग्रंथा – मनोरमः
कथावशेपतां याताः पद्मनीव हिमागमें

इस काल की स्मृतिृ आज भी कश्मीरी मानस में इस कहावत के रूप में दोहराई, जाती हैं, तेलि रोज़ाय कश्मीरि कॉहय गर् अर्थात् तब कश्मीर में सिर्फ ग्यारह घर ही शेष रह गए थे। यह जातीय स्मृति पीढी–दर–पीढी कश्मीर के अल्प संख्यक लोगों के मनोविज्ञान का एक अहम् हिस्सा बन गया है और इसने उनमें 'उत्पीडन बोध' का **Complex** भी जीवित रखा है। शायद यही कारण भी रहा हो कि पिछले कई विस्थापनों का लेखा जोखा कम से कम साहित्यिक स्तर पर उपलब्ध नहीं होता। यदि लिखा भी गया हो तो उसे स्वयं ही नष्ट भी किया हो या ऐसे छिपाया हो जो उन के साथ ही गुम हो गया हो। इस बार लेखकों ने चाहे वे मातृभाषा से इत्तर किसी भी भाषा में सृजन करते हों, अभिव्यक्ति के खतरे उठा उठा कर अपने अनुभवों तथा स्मृतियों को खुलकर व्यक्त किया। कविता हो या कहानी, उपन्यास हो या नाटक या फिर डायरी, गरज़ यह कि साहित्य की हर महत्वपूर्ण विधा में कश्मीर के इन विस्थापित, लेखकों ने विपुल सहित्य रचा जो आने वाले रिसर्चों के लिए मार्गदर्शन का काम करे गा।

प्रश्न यहां यह भी पैदा होता है कि इस साहित्य को

'विस्थापन सहित्य' ही कहें या फिर इस की विशेषताओं के आधार पर इसे 'निर्वासन साहित्य' की संज्ञा दें। दरअसल इस समस्त साहित्य में जलावातनी की पीड़ा खुल कर अभिव्यक्त हुई है जिस के पीछे वे कारण भी सामने आते हैं जो इस के जिम्मेदार है। विशेषकर विचारधारा का आतंक। इस तरह का सहित्य भारतीय भाषाओं में अभी तक लिखा ही नहीं गया जो शुद्धरूप से निर्वासन का प्रत्यक्ष अनुभव प्रकट करता हो। निर्वासन का सीध ा सम्बंध जलावतनी से है अर्थात् एक ऐसी विकट स्थिति का अनुभव करना जब आप अपनी जन्म भूमि वापस लौट ही नहीं सकते। इतिहास में यहूदियों की जलावतनी सब से लम्बी अवधि ा की रही है।

इन के सहित्य का अध्ययन करने से यह बात मुख्य रूप से सामने आती है कि इस का मुख्य आधार वह नास्तॉलजिया है जो स्मृतियों के रूप में प्रकट होता है। स्मृतियों में अद्‌भुत शक्ति होती है। नाबाकोव कहते है,

"I think it is all a matter of love - the more you love a memory the stronger and stronger it is"

कश्मीर की हिन्दी कविता में यह नास्तॉलजिया शिद्यत के साथ व्यक्त हुआ हैं। शशिशेखर तोषखानी अपना शहर छोड़ने के बाद भी उसे हमेशा अपने साथ महसूस करते है–

'मैं तुम्हें महसूस करता हूँ
अपने गाल से मुँह सटाए हुए
मेरी पीठ पर तुम्हारी सांसों का गर्म स्पर्श है
मेरी धडकने मेरे भीतर
तुम्हे बार ' बार ईजाद करती है।
मेरे रक्त में घुल जाते है
तुम्हारे पहाड, घर, द्वार और नाचते है

एक अनियंत्रित उत्सव चक्र में
तुम्हारी जड़ों को मैं ने
अपनी सांसों में छिपा लिया है।
मेरे शहर

यह कैसी त्रासदी है कि अपने ही देश में शरणार्थी बनकर हम अपने को एक ऐसी विकट स्थिति में खड़े देखते है जहां सिर्फ अस्तित्व का संकट हैं। यह संकट कभी उसे आक्रोश से भर देता है और कभी गहन निराश में। ऐसी ही स्थिति में कवि महाराज कृष्ण भरत कहता है।

'मैं आज़ाद भारत का
गुलाम शरणार्थी
विवश हूं रिलीफ कमिश्नर की
गुलामी के लिए ....
तीन साल पहले
मैं रात के अंधेरे में भागा था
फिरन में छिपाएं तिरंगे को
और आज आज़ादी
मेरे लिए तीन अक्षरों का जमावड़ा है

पर संघर्ष के इन दिनों में भी कश्मीरी विस्थापित अपनी परम्परा से जुडे हुए है और अपनी सांस्कृतिक विरासत का गर्व रखते है। कवि महराज कृष्ण संतोषी कहते है –

आज में खुश हूँ
अपने जन्मदिन पर
यह जानते हुए भी कि
मां के बनाए हुए पीले चावलों से
अलग नहीं है

मेरी व्यथा का रंग

आज मैं खुश हूं कि उनतालीस नहीं

मेरी आयु पांच हज़ार वर्ष पार कर सुकी है।

मैं खुश हूँ

कि लावारिस नहीं हूँ मैं

इतिहास मेरा पिता है

निर्वासन कविता में घर बार बार लौट आता है। जहां उसे धरती की तड़प, इतिहास के प्रति उत्तरदायित्व और संस्कृति के प्रति चिंताएं बार बार उद्धेलित करती है, वहीं घर वापसी का स्वप्न भी कवि बार – बार देखता है

'घरों का रास्ता मोन से होकर जाता है

लौटेगे फिर भी एक दिन

लौटेगे हम घरों को

हालंकि कुछ भी नहीं बचा है हमारे पास

घरों की याद

कुंवारी लड़की का पहला प्रेस पत्र है

जिसे वह सब की नज़र बनाकर पढती है

हम लौटे गे तो समय हरा हो जाएगा

पानी बहेगा छल–छल करता हुआ

(शशि शेखर तोषखानी)

घर लौटने की यह प्रबलइच्छा विश्व की समस्त निर्वासन कविता में शिद्दत के साथ अभिव्यक्त हुई है। पर घरवापसी भी एक खोज है उसके लिए जो कम त्रासद नहीं है। कवयित्री क्षमा कौल कहती है।

निकल जाता है जब वह

खोज में घर की छोटे बच्चे की तरह

पीछे मचलता हुआ
चला आता है घर
रोता है आठ – आठ आंसू
आंखे तरेर वह
वापस जाने को कहता
कि परेशान मत कर
चुपचाप रोता हुआ
ठिठक जाता है घर

निर्वासन कविता अतीत और वर्तमान के बीच का द्वंद्ध नहीं पर अतीत की स्मृतियों से वह अपने वतर्मान की लडाई लडने का साहस प्राप्त करता है। चाहे वे स्मृतियां चिनारों से जुडी हो। या बर्फ से झीलों से जुडीं हों या लोक कथाओं से या फिर आस–पडोस के लोगों से। कविता में इन स्मृतियों का महत्व कमकरके नहीं आंका जाना चाहिए। हालांकि स्मृतिविहीन होकर वह दूर जाना भी चाहता है जैसे पानी में बहती कोई शहतीर पर ऐसा वह कर नहीं पाता क्योंकि:–

मेरे पैर वितस्ता की कीच ने
पकड रखे है
और हडबडाकर
मैं उन्हें पीछे छोड़ आया हूँ
मेरा माथा अभी भी
यहां के ताप से पिघल नहीं रहा
यह सदियों से
महादेव और हरमुख की मेघ ढकी चोटियां में
ठण्डे धीमे संवाद में
लीन है

(रतन लाल शांत)

निर्वासन कविता में जो पीड़ा व्यक्त हुई है वह एक ऐसे मनुष्य की पीड़ा है जो अंहिसा और शांति में विश्वास करता आया है। जो प्रेम और सद्भाव के प्रति प्रतिबद्ध है। जो मानवीय सरोकारों को ही अपनी असली पहचान मानता है पर ऐसे में जब अंधेरों की साजिशं कुछ लोगों के दिलो दिमाग का साथ पाए तो निर्वासित कवि आतंक पीड़ा को यूं वाणी देता है :

जहां बरसती थी सदा प्रेम पयार फुहार।
वहीं निरन्तर हो रही गोली की बौछार।।
कविता केसर और कमल थी जिस की पहचान।
इस धरती को कर दिया किसने हां शमशान।
घर–घर दहशत घुस गई जगह–जगह विस्फोट।
सीना कौन बचा रहा लगी न जिस पर चोट।

निवार्सित कवियों ने जहां शुरू शुरू में ऐसी भी कविताएं लिखी जो उन की पीडा का विलाप भर थी पर इस विलाप से निकल कर वे संघर्ष के उस रास्ते पर चल पडे जहां उन्हों ने ऐसा नंगा सच कह दिया जिस ने सब को एक ही कठघरे में खड़ा कर दिया। वे राजनीतिक पार्टियां हों या मांस मीडिया के लोग। साम्प्रदायिक सोच वाले नेता हो या प्रगतिशील कहलाने वाले बुद्धिजीवी या मानव अधिकार संगठन। इन कविताओं में व्यंग्य एक प्रमुख हथियार के रूप में इस्तेमाल हुआ है। अग्निशेखर की ये पंक्तियों देख लीजिए।

अब मैं कहां रहा दोस्तों की नज़रों में
वो प्रगतिशील कवि
मैं ने संकट की बेला में गायब
वामपंथियों, कांग्रेसियों को ढूंडा

और जाने दिया
सच कहते है मानव अधिकार के दलाल
कि मेरा नहीं हुआ जातीय संहार
और न खास कारण था कोई
घर से भाग जाने का
कहां मरा हूं मैं निर्वासन में
लू से
चिन्ताओं से
नये रोगों से।

इन पक्तियों में भी व्यंग्य का पुट देखिए।

जब हम आए
तो सीधे राजा से दिले
उस ने कहा लो अब तुम हो गए
एतिहासिक
राजा इसलिए राजा है
क्योंकि उस के पास है यह शब्द
हम हुए ऐतिहासिक क्योंकि
हम इस शब्द से तिल मिलाए नहीं

(क्षमा कौल)

उन्हों ने हत्याए की
पर हत्यारे नहीं कहलाए
कभी कभी इतिहास
हत्यारों का कि इतना मान बढा देती है।

(महराज कृष्ण संतोषी)

कश्मीर की हिन्दी कविता में निर्वासन का यह बोध बिल्कुल मौलिक और प्रथम अनुभव पूर्ण है। कबीर की भाषा में कहें तो यह आंखन देखी सच है जिसे खारिज नहीं किया जा सकता। इन कवियों के सरोकारों पर संदेह नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि वे पूरी मानवीय गारिमा में विश्वास रखते है और उस सद्‌भाव को फिर से साक्षात होते देखना चाहते है तो कभी कश्मीरियत का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रहा है।

कविता में जहां बातें संकेतों से स्पष्ट होती है, गद्य में वहीं बाते, वही प्रसंग वहीं परिस्थितियां अभिव्यक्ति के स्तर पर खुल कर सामने आती है। कविताओं से इत्तर गद्य में भी कश्मीर के इन हिन्दी लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है और निर्मय होकर लिखा है,। विशेषकर कहानी और उपन्यासों में। इधर चंद्रकाता हरिकृष्ण कौल और क्षमा कौल के तीन महत्वपूर्ण उपन्यास प्रकाशित हुए है।

चंद्रकाता ने उपन्यास सतीसर गाथा में कश्मीर इतिहास के सत्तर सालों को तीन पीढ़ियों के माध्यम से चित्रित किया है जो 1931 से लेकर 2006 ई0 तक फैला है। इस उपन्यास को पढकर कश्मीर के इतिहास का वह विरोधामास प्रकट होता है जो समझाना सरल नहीं। हरिकृष्ण कौल के उपन्यास व्यथ यथा मे कश्मीरी चरित्र का वह मनोविज्ञान झलकता है जो किसी भी बाहरी आदमी को भरमा सकता है। क्षमा कौल के उपन्यास 'दर्दपुर' में निर्वासन पर फोकस सब से अधिक है। सुधा और सुमोना इस उपन्यास को दो महत्वपूर्ण चरित्र है जो एक ही उद्देश्य के लिए परस्पर जुड गए है। पर जिन के एप्रोच में जमीन आसमान का अंतर है। इस का अंदाजा इन पंक्तियों में देखिए:

तुम मुझे आंखे दिखा रही हो .....

सुमोना ने कहा

नहीं। मैं कह रही हूँ तुम ज्ञानी

हो पर संवेदनशील नहीं हो ....

तुम्हारे पास लक्ष्य है पर मानवीस स्पर्श नहीं......

सुधा की इन पंक्तियों में उन तमान बुद्धिजीवियों पर चोट की गई है जो सच को सच की आंख से नहीं देखते है।

इसी तरह कहानियों में भी निर्वासन के अनेक आयाम अभिव्यक्त हुए हैं जो मानवीय सम्वेदनाओं को छूते ही नहीं गहरे तक प्रभावित भी करते हैं। एक बात इन कहानियों में स्पष्ट झलकती है कि ये कहीं भी साम्प्रदायिक विचारधारा का समर्थन नहीं करती। हां साम्प्रदायिक प्रसंग इन कहानियों में भरपूर है पर वे सिर्फ उस अंतर–विरोध को दिखाते है जो कश्मीर के सामाजिक जीवन का मुख्य अंग बन गया है। संजना कौल की कहानी 'कल्पवृक्ष की डाली' हो या अग्नि शेखर की ' रिहाई '। मोती लाल क्यमू की व्यंग्य कथा पशुगाथा में न केवल बहुसंख्यक लोगो का चारित्रक विश्लेषन पशुओ के विभिन्न चरित्रों के रूप में किया गया है बल्कि उस दोगलेपन को भी रेखांकित किया गया है जो कश्मीरी समाज में पर्याप्त रूप से व्याप्त है। प्रस्तुत है पशुगाथा का यह अंश

'एक दिन हांगुल (हिरण) जाति ने अपना मौन छोड़ कर नारे लगाने आरम्भ किए और उसी दिन वानरों में ही न जाने कहां से जोश आया और वे भी उन के जलूस में सम्मिलित हो गए। इस हंगामे का फायदा उठाते हुए युवा भेडिये भी न जाने किस गली से आकर जलूस में मिलते गए। सब अपने नारे लगा रहे थे। हांगुल हिरण यह नारा लगा रहे थे, 'कातिल को पेश करो' वानरों का नारा था 'वानरी को पेश करो, मुलजिम को पेश करो' भेडिये छातियां पीट पीटकर यह नार बुलंद कर रहे थे, कालू को पेश करो'

डॉ रतन लाल शांत और श्याम विहारी ने डायरी में निर्वासन की उस तल्ख हकीकत को पेश किया है जो उस पूरे माहौल को

जीवित कर देती है जिससे होकर सब निवार्सित भाई गुजरे है। शांत ने दहशत भरे दिनों को अपनी बेबाक शैली में प्रस्तुत किया वहीं श्याम बिहारी ने व्यंग्य का सहारा लेकर ऐसी चोटे की है कि जो उस के अक्खड स्वभाव का एक रूप रहा है।

उदारहणतः

'आसमान साफ है और धूप चमकदार।

अभी सभी मधुमक्खियों का एक झुंड विस्थापित हुआ है। उन के क्रोध की आवृति नापने का कोई यंत्र नहीं मेरे पास। होता भी तो टूट चुका होता। पर इतना तय है कि इस समय कोई भी उन की ज़द में आए तो बचे गा नहीं। मधुमक्खियां है आखिर ये कश्मीर से निष्कासित हिंदू नहीं।'

कुल मिला कर इस संकलन में जो चयन किया गया है वह कश्मीर के निर्वासन साहित्य का प्रतिनिधित्व जरूर करता है। यह अन्य कोई दावा नहीं करता।

हिन्दी जगत के पाठकों से हमारी अपेक्षा रहेगी कि वे इस संकलन को जरूर पढ़े और यहां की व्यथ–कथा को सही परिप्रेक्ष्य में समझे।

विनीत

-महाराज कृष्ण संतोषी

सम्पादक

क्रम

कविताएँ

शशिशेखर तोषखानी

अपना शहर छोड़ने के बाद - 1

जब मैं चला
तो गली मेरे पीछे–पीछे चली आयी दूर तक
चुपचाप
लेकिन जब मैंने विदा कहने के लिए
मुड़कर देखा
तो वह कीचड़ बनकर
मेरे पैरों में लिपट गई
जब मैं चला
तो नदी ने मुझे पुकारा
एक नितांत आत्मीय नाम से
और तेज़ी से सीढ़ियाँ बढ़ते हुए
बुदबुदाते हुए दुख या गुस्से में जाने क्या क्या
थमा दिये मेरे हाथों में वे सारे के सारे चित्र
जो मेरे बचपन के दिनों ने
उसके साथ खिंचाए थे
और वे कपड़े जो मैं भूलकर आया था उसके किनारे पर
पहली बार उसके पानी में
नंगा उतरते हुए।
जब मैं चला
पहाड़ मेरा रास्ता रोककर खड़ा हो गया
और बोला याद नहीं कैसे तुझे
कंधे पर बिठाकर घुमाया है
एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र तक

प्रकाश वर्षों की दूरियाँ एक झपकी में पूरी करते हुए

हवा

दोस्तों – स्वजनों की बातचीत के

न जाने कब–कब के तिनके लिए

बेचैन चक्कर काटने लगी मेरी साँसों के बीच

और जब तक मैं सोचूँ सोचूँ कि क्या जवाब दूँ

उस पेड़ को

जिसकी पत्तियों के हिलने के साथ–साथ

मेरे खून की बूँद–बूँद नाची है

सामान लादा जा चुका था

और गाड़ी चल दी थी

एक स्याह चाकू–सा कुछ उठा था अंदर तक

और कट कर रहा गया था दो टुकड़ों में

सेब–सा

मेरा एक टुकड़ा पहाड़ का

एक टुकड़ा मैदान का –

शहरों ने चुने हुए इस शहर का

जहाँ मैं रोज़

एक भागती हुई बस के पेट में समा जाता हूँ

समूचा

और एक नभचुंबी इमारत की

जाने कितनी सीढ़ियाँ कितनी बार चढ़ते उतरते

सोचता हूँ

क्या यह केवल भूख थी

जिसने मुझे अपनी पूरी वर्णमाला से तोड़कर

जीने की याचिका बनाकर रख दिया है

उदासीन मेज़ों पर
क्या केवल कुछ सिक्कों और सितारों की
संदिग्ध चमक में
भविष्य की परछाई मापने की ज़िद
क्या मेरे पहाड़ी शहर के तालों में खिल रहे
तमाम–तमाम कमलों के होठों पर
नहीं रह गया था मेरे लिये एक भी शब्द
मधु–सा विश्वसनीय और प्रगाढ़
क्या उस भूख में शामिल नहीं था थोड़ा वह गणित
जिसमें शून्यों का षड्यंत्र
नहीं लेने देता है इकाई को किसी भी समीकरण में
शरण
क्या उसनें शामिल नहीं था थोड़ा इतिहास–
तलवारों के किनारे रहने वाले सिर की
थोडी–सी बगावत
एक रहस्य तो मैं कह सकता हूँ सबसे बेझिझक
घर छोडकर चले आए
मेरे पैरों के निशानों को कोई खुरचेगा अगर
तो उनमें से खून निकल आयेगा ज़रूर।

अपना शहर छोड़ने के बाद - 2

मैं तुम्हें महसूस करता हूँ
अपने गाल से मुँह सटाए हुए
मेरी पीठ पर तुम्हारी सांसो का गरम स्पर्श है
मेरी धड़कने मेरे भीतर
तुम्हे बार – बार ईज़ाद करती है।

मेरे शहर !
हालांकि मैं दूर जा गिरा हूँ अपने समय से
कमीज़ से टूटे बटन सा
हालांकि धूल के बोगदे – सा
भटकता – भागता
जिंदगी के चिनार मैदानों के पार
मैं पहुंच गया हूँ वहाँ
जहाँ दिन एक चाक सा खुलता है अचानक
और मैं रोज़ मरता हूँ
अपनी भूख की दहलीज़ पर
मेरी आवाज़ में फिर भी आती है
तुम्हारी पतियाँ की तीखी गंध
मेरे रक्त में घुल जाते है
तुम्हारे पहाड़, तुम्हारे पेड़
तुम्हारे मैदान, गलियाँ, घर – द्वार
और नाचते हैं
एक अनियंत्रित उत्सव चक्र में
मेरी नसों में झर–झर करके झरता है रात– दिन
तुम्हारे हज़ारों हज़ार झरनों का
पारदर्शी पागलपन/ तुम्हारी जड़ों को मैं ने
अपनी साँसों में छिपा लिया है
मेरे शहर!
और अपने दुःख की इस व्याकरणहीन रात में
जब अक्षर तक भूल गए है
भाषा के ओठों को
मैं तुम्हारे अर्थ को खोजता हूँ

तुम्हारी लाडली नदी की
नीदं डूबी सीढ़ियों पर
जिसके पानी में जन्म लेती रही है सभ्यताएँ
और शताब्दियाँ तैरती हैं जिसकी सतह पर
काई बन कर
बटोरता हूँ मैं
एक पुरानी पहाड़ी के पत्थरों के बीच से फूटते
मंत्रों के बीजाक्षर
पहचानता हूँ एक प्रचीन किले की दरारों से झाँकते हुए
पुरखों के सिर
जिनकी आँखों से बहती स्मृतियाँ
अब सूखने लगी हैं
पाता हूँ मैं तुम्हें
अपनी फैली बांहों में
एक मुरझाए कमल की छाया–सा
जिसकी पंखुड़ियाँ
तेज़ाबी बारिश में बिखर गई है।
और चुप नहीं हूँ
उन आईनों के बारे में भी
जिनकी सतह पर
मरी हुई मछली–सा आ जाता है
सच का दूसरा चेहरा
और डूब जाते है
यादों के
जाने कब–कब के आकाश
मुझ से छूटकर भी तुम

मेरी त्वचा के अंदर रहते हो
मेरे शहर।
कभी–कभी सांस लेते हुए
मैं तुम्हें महसूस करता हूँ
एक भीतरी चोट की तरह

फैलेगा-फैलेगा हमारा मौन।

फैलेगा–फैलेगा हमारा मौन
समुद्र के पानी में नमक की तरह
नसों के खून में घुलता हुआ
पहुँचेगा दिलों की धडकनों के आस–पास
बोरी से रिसते आटे की तरह
देगा हमारा पताः
हम जहाँ भी हों
किसी दुःस्वपन में
या दुःस्वपन से भी भयंकर वास्तविकता की कगार पर
दूब की जड़ों–सा अंधेरे से होता हुआ गुल्थम–गुल्थ
माँगेगा अपने लिए एक पूरी ज़मीन
पड़ा रहेगा हीरे की चमकती अंगूठी–सा
हमारे दुःख की छोटी उंगली में
शरणार्थी शिविरों में हमेशा के लिए उदास हो गए
बच्चों का मौन
कोटर से निकाली गई
बूढ़े कवि की आँखों का मौन
जो हमेशा सच की तरह खुलती थीं
स्त्रियों के होठों पर जमी

शोक की काली नदी का मौन
उन सब लोगों का मौन
जिन्हें चुप करा दिया गया है
हमारे आँसुओं की वर्णमाला
खड़े रह गए हम
अपनी छाया को अपनी बाँहों में लिए हुए
वध्य, निहत्थे, क्रुद्ध।
बार–बार पूछते हुए 'क्यों क्यों'
हमारी उंगलियों के पोर–पोर में
सुलग रहे हैं प्रश्न
जिनके उत्तर ढूँढ रहे हैं हम
एक पुरालिपि के बुझते प्रकाश में
हमारी आवाज में शेष है अभी
हमारे विश्वासों का अविकल सच
हमारे पास अब भी है
हज़ारों बार कत्ल हो चुके अपने सपनों का पागलपन
हमारे पास अब भी है
अपने आँसुओं का नमक
कुछ ऐसा लग रहा है हमें
कि हमारी पीड़ा के पड़ोस में
कश्यप ऋषि फिर से बजा रहा है अपना शंख।

घर

इस घर की नींव में
ज़रूर एक धड़कता हुआ दिल है
कि घर से दूर

निर्वासन की इस निचाट शून्यता से भी
सुनाई दे रही है हमें उसकी धड़कनें
छूट गया है हमसे हमारा घर
मगर उसी की छत के नीचे छोड़ आए है हम
अपने बीते जीवन की परछाइयाँ
कमरों में उलट–पुलट कर दी गई चीज़ों के बीच
पड़ी हुई वह धूल–जमी घड़ी
जो हम भूल आए थे वहाँ
अब भी दे रही है वही पुराना समय
दीवार से लटके
चकनाचूर आईने से भांक रहा है
हज़ार टुकडों में बैंटा हमारी अनुपस्थिति का चेहरा
घर के हर कोने से आ रही है
हमारे कहे गए शब्दों की गूँज
जली हुई खिड़कियों के उदास चौखटों पर
धीरे–धीरे उतरती है रात
और हमारे नाम लेकर हमें पुकारती है
हवा चुपके से आकर
दरवाज़े पर लगी सांकलों को हिलाती है
शायद वह नहीं जानती कि अब हम घर में नहीं रहते
झपट्टा मारते समुद्र की लहरों की तरह
हमारे भीतर प्रवेश करती है घर की यादें
पंख फड़फड़ाते कबूतरों की तरह मंडराती है
हमारी आँखों के मटमैले आकाश में
घर से दूर
अपने समय की सिकुड़ती छाया में खड़े हम

नहीं जानते हैं कि किससे कहें
कैसे लगता है हमारी जीभ को
'घर' शब्द का स्वाद
जानते हैं अगर हम कुछ तो बस इतना........
कि अब हम घर के अंदर नहीं रहते
अब घर रहता है हमारे अंदर।

एक रूके हुए क्षण में

अभी–अभी
मैं एक पूरी झील रोया हूँ
अभी–अभी
पलक झपकते
मैं एक पूरे दुःस्वपन की आँख में सोया हूँ
अभी अभी महसूस किया है कि मैने
अपने आपको एक पूरे पेड़ से छाल–सा उतरते हुए
अभी–अभी जिए गए जीवन की
एक पूरी मुट्ठी
फिसल गई है मेरी उँगलियों के बीच से
अभी–अभी
एक थरथराते पीले पत्ते–सा मैं
एक पूरे आकाश से गिरा हूँ
बेचैन पक्षी–सा उड़ेगा आग के इस पेड़ से
उस पेड़ पर
नींद के गुप्त दरवाजों की सांकलें खटखटाता हुआ
विचारों में गुपचुप करेगा प्रवेश
और अपने लहूलुहान पैरों की छाप छोड़ जाएगा

हर आँख से आँसुओं को बटोरता हुआ
वुनेगा एक लम्बी और मज़बूत रस्सी
सुलगते हुए पलीते–सा पड़ा रहेगा
उन पुलों के नीचे
जहाँ से गुजरंगें झूठ के हज़ारों पाँव
और तब
हमारे मौन के धमाके से बड़ा
दूसरा कोई धमाका नहीं होगा।

बर्फ

झाड़ रहा है
अपनी टहनी से बर्फ
चीड़ का पेड़
पर पहाड़ क्यों कांप रहा है
बर्फ के एक नन्हे–से फाहे का गिरना
कहीं चट्टानों के खिसकने की
शुरूआत तो नहीं?

पहाड़

कल
पहाड़ के कंधों पर बैठकर
हमने छू लिया था आकाश
आज
पहाड़ आकर बैठ गया है
हमारे कंधों पर।

कत्लगाहों के नक्शों में

कत्लगाहों के नक्शों में हमारे सिर
रखे जा रहे हैं मील के निशानों की जगह
और कोई भी दिशा यहाँ तय नहीं है
मृत्यु के सिवा
ओठों पर अपने ही उजड़ने का स्वाद लिए हम
भाग रहे हैं स्मृति की अंतिम खोहों की ओर
हारी हुई सेनाओं की अधजली पताकाओं की तरह
हमारे केवल नाम बचे हैं
एक अदृश्य चाकू ने खींची थी
हमारे ही रक्त से
जीवन और मरण के बीच जो रेखा
उसे पार कर
बिखर गए हैं हम अपने दुःख की दसों दिशाओं में
अपने चेहरों को ख़तरे की घंटियों में बदलते हुए
नहीं सोचा था हमने
कि भय का क्षितिज होगा
हमारी श्वासनली के इतना समीप
नहीं सोचा था हमने
कि एक–एक करके टूटकर गिरेंगे
हमारे आकाश के सारे सितारे
और दब जाएँगे धूल–मिट्टी की परतों में
मृत्यु के धुएँ और बारूदी हवा को
फेफड़ों में भर कर
जहाँ हम खड़े हैं

इतिहास की इस ठंडी चट्टान के पीछे
वह हमारी पीड़ा की नाभि है
बंदूक की नोक से भी कहीं अधिक
गड़ता है हमारी छाती में
दिल्ली के सिंहासन का पाया
जिसकी लकड़ी अपने पेड़ को भूल चुकी है
हमें विश्वास था कि हमारी चीख
बाण की तरह छूटेगी
और बींधेगी समय का काला हृदय
लेकिन वह बिखर कर रह गई
एक घायल फूल की पंखुडियों की तरह
कोई नहीं, कोई नहीं आया पढ़ने
अभी–अभी खून से भीगे एक पूरे वस्त्र–सा मैं
फड़फड़ाता हूँ समय की हवाओं के बीच
अभी–अभी मैं एक पूरी दृष्टि उतरा हूँ
शब्दों के धड़कते दिलों के अंदर
अभी–अभी
एक पूरी कविता निचोड़ लिया है मैने
अपने आपको।

रत्न लाल शांत

पितृभूमि

उसने मेरे लिए एक लाल नदी बिछाई है
और आमंत्रण दिया है
कि मैं–तैर कर पितृभूमि लौट सकता हूँ
चुनौती दी है
कि दांतों में उसका परचम पकड़ूँ
फिर सिर पर ढोकर ले जाऊँ
जान और जिस्म का जो भी संबंध चाहूं।
बेबाक और साफ है
उसका हिसाब–
मेरे तैरने से बनता रहेगा पुल लगातार
पितरों के तर्पण से जिंदा रहेंगे वितस्ता के घाट
बारूद से वह फोड़ देगा नदी का ठोस तल
चौड़ा करता रहेगा नदी का पाट
'यौं सुरक्षित रहेंगे हम दोनों के
मौलिक अधिकार।''
बेबाक और साफ है
उसकी राय उसका सुझाव –
अभी भी समय है
मैं समेटना शुरू कर सकता हूँ
अपना वर्तमान, अपना आकार
कि मेरा व्यर्थ का विस्तार
उसकी विश्वव्यापी तलवार की
भेंट न हो जाए।

जगमोहन?

मेरे पड़ोसी के पीछे का पड़ोसी
अचानक
मेरी समझ से बाहर था
यद्यपि वह बड़े समय से
अपने लक्ष्य के अंदर था।
पर बन्धु
तुम और सरल निकले
जो परिधि पर खड़े हो बेफिक्र
कि आवाजों में अब लक्ष्य–बेधन के ज़ोर नहीं रहे
तुम तक आते आते खुद ही थक जाएंगी।

तुम्हारा अपना संगीत तो काल सिद्ध है, भाई!
और अपनी रक्षा के लिए बांध रहे हो
गले में डोर
शोर के,
बार बार दोहराए जा रहे रूढ़ झूठ!

तुम्हारा भी मेरे जैसा

करोड़ों वर्ष पुराना सच है हिमालय
तो फिर कैसे हामी भरी
कि कोई सूरज इतना 'जगमोहन' था कि उसने मोहे रातों रात
हिमालयी देवदार, बर्फानी चोटियाँ, गहरी झीलें
चंचल झरने, हरियर घाटियां.....
सब उड़ चले मोहित होकर,
('चूहे' जैसे 'बंसी वाले' के पीछे)

और तपते मैदानों में
खेत रहे या रेत हो गए
यों तार्थ हो गए
तुम डरे हो भाई!
सच डरे होते हैं, बेहिम्मत, सरल विश्वासी
पर यह भी जानो
झूठ भी मन ही मन आतंकित होते हैं
और खून के थक्के की तरह
विस्फोट से बचने की कोशिश में
अपनी किसी धमकी में
रुके होते हैं।

पोथियां

कश्मीर
तुम मुझे तार तार कर सकते हो
पन्ना पन्ना बिखेर सकते हो
पर मैं टुकड़ा टुकड़ा समेट कर जियूंगा
फिर संपूर्ण हो जाऊंगा
और तुम्हें फिर पाऊंगा।

मैं तुम्हारे कल की पोथियों से फलादेश लूंगा
अर्थ करूंगा
और अपने कल के जख्मों पर
नए अर्थों की पट्टी करूंगा।

जब तुम सामने थे, कश्मीर!
तो मैं मानता था कि फलादेश बेजा है
क्योंकि जानता था कि अर्थ वह नेज़ा है

जिसकी तेज़ अनी से मुझे बचना है!

अब सफर में हूं
तो चुभा रहने दूंगा
आधा माथे में और आधा जिगर में
आधा पड़ाव में और आधा डगर में!
कश्मीर!
तुम घाटी में जी रहे हो क्या?
तुम्हें खबर है
कि तुम खुद अपना इतिहास नहीं रहे
तिथियां भी नहीं रहे हो?

जानते हो?
घाटी के बाहर तुमको कैसे जी रहा हूँ
तुम्हारी पोथियों के बिखरे पन्ने कैसे सी रहा हूँ?
कश्मीर!

तुम तोता–चश्म हो सकते हो
पर सदियों के लिखे अपने ही अक्षरों की मीमांसा
नकार सकते हो?
मैं तुम्हारी ही पोथियों से
तुम्हें पाने की नई तिथियाँ
खोज लूंगा।
इतना समझ लो, कश्मीर!
तुम्हारी राह देख देख कर
जब मेरी बरौनियां थक जाएंगी
आंखें तुम्हारे रास्ते नम भी नहीं कर सकेंगी
तो तुम्हें तुम्हारे रास्ते नम भी नहीं कर सकेंगी

तो तुम्हें आना ही होगा
अपनी किसी तिथि को सच करना ही होगा
वरना पोथियां की पोटली सिर पर लिए
जलाक्तन रहोगे
घाटी के बाहर जैसे
घाटी के अंदर भी वैसे ही।

प्रार्थना

मुंह अन्धेरे ही
शहर के देवी देवता
अपने अपने भक्तों से घिर जाते हैं
देवता प्रसन्न होते हैं
'सुख सम्पति घर आने 'तथा'
कष्ट मिटाने, तन का के
आश्वासन आसमानों से बरसाते हैं
पर मेरे शंकालु मन को ड़र है
कि आसमान अब उतना आक्सीजन नहीं जनता
कि मेरे दिये की लौ
आखिरी पहर तक चले
कि मेरी कविता का रतजगा पूरा हो जाए,

मेरी प्रार्थनाएं मन्दिर नहीं जानते
कि लम्बी गर्मियों में मैं ने
ऊचें भटकते बादलों के लिए
पृथवी की प्यास की समझ मांगी थी
और सर्दियों में चाहे थे
सीलन वाले कमरों के लिए

धूप के कुछ गुनगुने वायदे।

पर मेरी नजरें निकल पड़ती हैं

कुरेद कुरेद कर टटोलती है बर्फ की राख
और चुन चुन कर रखती है चिंगारी
अपने कोरे कागजों में सम्हाल कर
कभी कभी चित्रों में
देवी देवताओं के पैरों में
क्योकिं तस्वीरें बेहरकत पड़ी रहती हैं
अपने आसमानों के शून्यों में
खोई रहती है
प्रार्थनाओ के ठंडे सुखद संगीत में।

डर

देस को अखरता हूँ
और वतन जाने से डरते हूँ

डर अनहोनी का नहीं
पर जो होना है वो सोच कर घबराता हूँ
बदले बदले गली मुहल्ले
भूले हुए बाज़ार में
या पराए हो गए नदी किनारे
कहीं से आवाज़ आए
और मेरा नाम लेकर बुलाए
बरबस मुझे चौंका दे

यही होना है यही होगा
यही सोच कर देस में जिंदा हूँ

यही सोच कर देस में मरता हूँ
और वतन जाने से डरता हूँ।

पितृभूमि की यात्रा

हल्का था मन, कदम भारी थे
खुली आंखों की यात्रा के लिए
मैं झटके से सपनों बाहर आया

सड़कें जैसी मैं छोड़ गया था
कुछ ज़्यादा थीं ऊबड़ खाबड़
मेरे सामने आपबीती की गठरी खोल कर पसर गईं
दशक मेरे सामने गंधाने लगे
अबूझ लाशों की तरह

मेरी जानी पहचानी गली
अविश्वास में मुझे देखती रूक गई
अयाचित अतिथि पर मैं अलग खड़ा रहा
रोशनियां
मेरी आंखों में ठुंसी उंगलियां थीं
मुझे नज़र नहीं आईं

लोग थे वैसे ही उदासीन
गलियों के किनारे पकड़े बैठे हुए
आगंतुक कंधों पर सिर रखते हुए
कसकर गले मिलते हुए
और कानों में
लौट जाने का सुरक्षित रास्ता
और शुभ तारीख बताते हुए

मेरा घर था यही कोटर

सीढियां मौजूद थीं

पर दूसरी मंज़िल

पछताती खड़ी दीवारों के बीच गायब थी

अकारण लटक रहे थे रोशनदान

बिना छत के अवकाश में

उतर रहा था आकाश

बिना दरवाजों का घर

न्यौत रहा था

आंगन में ताजा कीचड़ थी

और कीचड़ में कुलबुला रही थी

सतीसर से नवासी की बाढ़ तक लंबी

सदियां

और तंग का काफियों में कसमकसा रही थी

'ललवारव' से 'ना दिमन' तक

चौड़ी रागिनी

और मेरा कंधा

मेरे उदासीन दोस्त के आंसुओं से

भीग रहा था।

फैसला

फैसला

आखरी अवकाश के लिए/ उठा दिया गया है

उत्सुक दिशाएं/ अब लौटने लगी है

प्रतिध्वनियां/ गलियारों से गुज़र कर

खामोश घरों में घुस गई हैं

थकान और वितृष्णा
पोस्टर की तरह चिपक गई है
खिडकी खिडकी दूर दूर
सिर्फ कुछ ज़िद्दी बेधशालाएं है/ जो थकी नहीं
और देख रहीं है/ कि हवा
धुँए की बची खुची बूंदे सोख कर
अधर में लटक गई है
धूप
जंगल का आखिरी तिनका झुलसा कर
नंगा पहाड़ उतर चुकी है
मै क्या करूं कि मौसम
मेरे लिए बदल जाए
समय के दफतर से
कोई सूची छपे
कि मुझे मालूम हो जाए
मैं वादी हूँ या प्रतिवादी
किसी बेधशाला को मेरी भी आंच लग जाए
कि मैं भी विधिवत
फैसले के प्रतीक्षकों की पक्ति में
खड़ा हो जाऊं

छीनेंगे हमारी भाषा?

जिसे हमने कानी आंख वाले कानून के दिन
पगड़ी की तरह माथे बांधा
पसीने की नन्ही बूंदों की तरह
जिसमें हमारी सुगंध चहचहाई

हमारी रक्त कोशिकाओं के साथ साथ
जो सैकड़ों शतक दौड़ी
पराई ज़मीनों पर जो
हमारे बगल में आ खड़ी हुई
कि हमारा कदम न लड़खड़ाए

कहां कहां से छीनकर उसे
चुरा ले जाएंगे वे ?
क्या माथे की सिलवटों के साए में सुस्ताती
व्यथा कथाओं से ?
अयाचित रास्तों की सौगात
पैर की बिदाई में जमा धूल से

मां–बोली भूले जवानों की अज्ञात नानी
खोपड़ी के पिछवाड़े बैठी उस चिरायु बुढ़िया से
जो अवचेतन की नसों में चित्र बुन बुन कर
जमा करती जा रही है
युगों से अनस्तित्व में अस्तित्व की कठिन पहेलियां
खुद ही सुझा रही है
खुद ही बुझा रही है।

पंडित शहीद से

तुम भी पहाड़ की चौकीदारी में खड़े पेड़ थे
तुम जंगल से अलग कहां थे
तुम से भी जंगल सुंदर था
तुम्हारी ज़रा सी थी चाहतें
थोड़ी हवा कि पत्तों में उसे थाम कर लौटा दो
थोड़ा पानी कि जड़ों से लेकर उसे

हवा में छितरा दो

मेरे हमशक्ल बंधु
फिर जंगल को तुम क्यों अखरे
उसने तुम्हारी सांस का रास्ता क्यों रोका
तुम्हारे पैरों तले की जमीन क्यों छीन ली ?
देख रहें तुम स्वर्ग से
तुम्हारी जड़ें खोदने की कोशिश में
वह केवल एक गढढ़ा खोद पाया है
अपने माथे पर
रिस्ते घाव की तरह
तुम्हारी जड़ें पहाड़ के आर पार फैलती देखकर
कुंद पड़ा है उसका कुल्हाड़ा
टूट रही उसकी कुदाल
तुम्हारा बीज जगह जगह उग रहा है
फूल फूल हुआ तुम्हारा पत्ता पत्ता
हवा और पानी की चौकीदारी में
जग रहा है।

कभी हमे लगता है कि तुम बेबस हो

हम मुट्ठियां भींच कर रह जाते हैं
पर तुम असार मानते हो
कि लोग तुम्हें याद करते हैं
हम तुम्हारे खोये बेटे
अपने संशय में
और तुम्हारी चिंता में
तिल तिल मरते हैं।

पृथ्वीनाथ मधुप

अकेले-अकेले

अंधेरे की साज़िश
चुभन कंटकों की
सहे जा रहे है
अकेले–अकेले।

शिलाओं ने
गीत को
हमारी, पुकारा
बहे जा रहे हैं
अकेले–अकेले !

अचीन्हीं
बियाबान
पगडंडियों को
गहेजा रहे हैं
अकेले–अकेले !

सबों की
पड़ी है जो
गिरवी जुबाने
कहे जा रहे है
अकेले–अकेले

तुम्हें
आंच आये न तिलभर
तभी तो

दहे जा रहे है
अकेले–अकेले ।

शिर्यभट्ट आयेगा

वितस्ता में खून बह रहा
कब से
किनारों पर मोटे मोटे लाल हरुफ में
लम्हा–दर–लम्हा लिखी जा रही दहशत
सड़ी–गली लाशें
पाटती हर बांक
ईद मना रहे गिद्ध चील कौवे
रीछ सियार कुत्ते

क्यों नहीं आते ?
ढोते रहेंगे–
और कितना लम्बा इन्तिज़ार
तुम्हारे सीने के पार नहीं हो सकती
गोली किसी नकाबपोश की
आरडीएक्स का
बड़े से बड़ा धमाका कुछ बिगाड़ नहीं सकता
तुम्हारा था, है, होगा–तुम्हारा होना

याद है?
जब देर तक
एकटक
देखते रहते
पूरब में

दूग्धधार से श्वेत शॉल ओढ़े
चोटियों पर
अरुण का
कुंमकुभ छिड़कना–छिड़कते ही जाना!
पश्चिम में
सन्ध्या का
'डल'के हल्के नीले जल में
घोलते जाना!! सिन्दूर घोलना

याद है?
सघन चिनार की शीतल छांह तले के
वे गर्मागर्म संवाद
बात बात पर
'श्रुक्य' और 'वाख'
हो आना याद!!!

याद है?
राह चलते
कितनी मोटी डोर से
बांध देता–
'परमानन्द'–
'तिब्बतबकाल' की ज़बान से
मनकबत–
सुर में
'ऐमा' के!!!

याद है........?

आज–

खो हृदय
बेच आत्मा
उगाने में व्यस्त
सन्तान हमारी
धब्बे–दर–धब्बे
चोटियों के
शफ़ाफक़ शॉलों पे
उतारने को आतुर
लहू ब लहू के–
अनन्त नाले
डल में
निर्मल नीलगूं पानी के बदले!!

शंख–अज़ान–सबद
को गुंजाने वाला
बिम्ब
'हरिपर्वत' का अब–
इसी में देखता होगा/हमें???

आतंक-पीड़ा : आठ दोहे

-पृथ्वीनाथ

'मधुप'

(1)

जहां बरसती थी सदा, प्रेम–पयार–फुहार।
वहीं निरन्तर हो रही, गोली की बौछार।।

☐

कविता, केसर औ' कमल थी जिसकी पहचान।
उस धरती को कर दिया किसने हा! श्मशान।।

☐

घर–घर दहशत घुस गई, जगह–जगह विस्फोट।
सीना कौन बचा रहा, लगी न जिस पर चोट।।

☐

खून सना लगता मुझे, सुबह–शाम–आकाश।
धर दी हो आंतक ने, ज्यों लाशों पर लाश।।

☐

मूल कटे शाखें गिरी, रही न मर्मर तान।
तड़प–तड़प दम तोड़ती, अपनी वह पहचान।।

☐

पंछी से ज्यों पर छिनें, छिने मीन से नीर।
ऐसे पल–पल जी रहे, हम विस्थापन पीर।।

☐

क़दम–क़दम अंधियार है, कहीं न आशा–जोत।
जीएंगे कब तक कहो, विस्थापन की मौत।।

☐

अब की होली पर मुझे, मलना नहीं गुलाल।
लाल रंग करने लगा, अब मुझको बेहाल।।

तड़प

अरे, मेरा करो अपहरण
ले जाओ मुझे अपने यातना–शिविर में
कुछ नहीं कहूंगा मैं
करो जो कुछ भी करना है
मेरे शरीर के साथ
जिन्दा जलाओ, काटो
या दफन करो कहीं मुझे
नदी के किनारे
बर्फीले पहाड़ों पर
किसी गांव में
या कस्बाई गली में
कहीं घूरे के नीचे

मैं तरस गय हूं
अपनी ज़मीन के स्पर्श के लिए

मुझसे छीन ली गयी मेरी नदी

मुझ से छीन ली गयी मेरी नदी
बदल दिया गया उसका नाम
बंद हो गया उसमें दियों का बहना
मुझ से छीन ली गयी चिनार की छांह
उसका कर दिया गया लिंग–परिवर्तन
वह थी मेरी भुवन–व्यापिनी मां

उसके रोम रोम से मुस्कुराती थी
मेरे सपनों की कोंपलें

एक दिन चुपचाप बदल दिये गये
मेरे सैंकड़ों गावों के नाम
जैसे आंख मूंदकर पहुंचा दिया गया हो
किसी अरब–देश में
मुझसे छीन ली गयी मेरी भाषा
छीलकर फेंक दी गयी उसकी लिपि
इस तरह सदियों की ठंड में
बर्फ होती गयी मेरी आवाज़
मुझसे छीन लिया गया मेरा चेहरा
और सब तरफ से पहचान लिये जाने के डर से
मैंने बदल लिया हुलिया
और घूमता रहा गलत फहमी में बेखौफ़
मुझसे छीन लिए गये धीरे–धीरे
मुस्कान, बर्फ, पहाड़ियां,
पेड़, मौसम, त्यौहार
और समूची मातृभूमि अबकी बार

लू-1

तपी हुई धरती पर रखे
चिनार से मेरे पिता ने
अपने हरे पांव –
हे राम !
राशन, पानी और टेंटों के लिए

निकाले गये जुलूस में चलते हुए
कहा उन्होंने
मेरी जल रही हैं पलकें –
मैंने उनके सर पर रख दी
गीली रूमाल ....
पुलिस ने छोड़े आंसू के गोले
भाग गये विस्थापित

पिता बैठ गये एक गली में
खम्भे के साथ, बोले–
चलो करते हैं धर्म–परिवर्तन ही
और लौट जाएंगे
घने चिनारों की छांह में
वहीं मरेंगे अपनी मातृभूमि में
एक ही बार
पिता देखते रहे धूप में अवाक्
और वहीं पर
हो गये ढेर

लू-2

इस धूप में
पगला गयी है मेरी मां
झर गये हैं उसके पत्ते
उसकी स्मृतियां
रहती हैं दिन भर निर्वस्त्र
हो गयी है मौन ......

वेदनाओं से मुक्त
किसी पोखर सी उदासीन
लू चल रही है
और डाक्टर लिखते हैं एक ही उपचार
चिनार की हवा !
क्या करूं मां
मेरे बस में नहीं है
यह दवा

□

बारिश में पतंग

इस बारिश में
कैंप के पिछवाड़े
मुर्दा भैंस के कंकाल में छिपाकर
रख आता है एक बच्चा
अपनी पतंग
तम्बू से उठ गया है
उसका विश्वास

□

ज्याति-पर्व

जलावतनी में
याद आती हैं अनगिनत दीवालियां
बह गया मेरी झुर्रियों से इस बीच
वितस्ता का इतना पानी
और सरसब्ज हो गया यह देश

यह केवल मैं ही हूं
जिसे नेहरू का गुलाब लगता है
गर्म लहू की बूंद जैसा

दीप जल रहे हैं उत्सवी मुद्रा में
सब तरफ
और हो रहा है लक्ष्मी–पूजन रातभर
मैंने बरसों से नहीं मनाई दीपावली
अपने घर में
शुक्रिया मेरे देश
मुजाहिदों ने आराम से जला डाला
मेरा घर
शुभकामनाएं तुम्हें ज्योति पर्व पर

□

19 जनवरी 1990 की रात

घाव की तरह
खुलती हैं मकानों की खिड़कियां
छायाओं की तरह झांकते हैं चेहरे हर तरफ
फैल रहा है बर्फ़ानी ठंड में शोर
हमारी हड्डियों की सुंरग में धुसने को मचलता हुआ
गालियां, कोसने, धमकियां
कितना कुछ सुन रहें हैं हम

तहखाने में कोयले की बोरियों के पीछे
छिपाई गयीं मेरी बहनें
पिता बिजली बुझाकर घूम रहे हैं

कमरे में यों ही
रोने बिलखने लगे हैं मुहल्ले के बच्चे
होंठ और किवाड़
दोनों हैं बंद
बाहर कोई भी निकले
शब्द या आदमी
दोनों को खतरा है

□

एक पाकिस्तान दोस्त का आना

जीवन में एक बार
उसे जम्मू आकर तैरना है तवी में
यहाँ देश बटवारे से पहले
तैरा करते थे उसके अब्बा
वह आ रहा है पाकिस्तान से यहाँ
तवी के घाटपर
जैसे शरणार्थी कैंप में मरे पिता की
अस्थियां लेकर गया था मैं कश्मीर
मन ही मन
जहाँ बहती है मेरे पुरखों की नदी

वह आ रहा है
अपने अब्बा की यादों के रास्ते
मल्लिका पुखराज के मर्म तक
जिसकी आवाज़ से होता था
तवी में कम्पन

झूम उठते उसके आशिक
होती चिमेगोइयां
लगते ठहाके तवी के घाट पर
मेरे दोस्त को उम्मीद है
उसे मिलेंगे तवी के पानी में
अब्बा के अक्स
जैसा मेरा बच्चा देखना चाहता है
कश्मीर जाकर
मेरे गांव का स्कूल
जहाँ पढ़ता था मैं
और पेड़ों–पेड़ों करता था उछलकूद
तोड़ता चोरी से
वर्जित फल

खुशकिस्मत हो मेरे दोस्त
तुम आ सकते हो पाकिस्तान से
तवी के पास
मैं नहीं लौट सकता ....।

(दो)

अली अदालती
तुम्हें जम्मू जाकर तैरना है नदी में
क्योंकि तवी में तैरना है नदी में
क्योंकि तवी में तैरा करते थे तुम्हारे पिता
अली अदालती
तुम इन दिनों सीख रहे हो तैराकी
अली अदालती

मेरे शरणार्थी–कैंप में रहती है
एवः लड़की
जो एक दिन चुपके से भागकर पहुँची
कश्मीर में अपने गांव
और कूद पड़ी कपड़ों सहित
हजारों–हजार मछलियों अंटे
सूर्य कुंड के हरे जल में
तैर कर गई कुंड के बीचोबीच
अपने इष्ट के पास
चढ़ाया नम आंखों से
जल बरसों बाद
रो पड़ीं सूर्य–कुंड की
असंख्य मछलियां उसे देख
सिसकियां भरी
बुजुर्ग चिनारों ने
वह तैरती रही
त्रासद उल्लास में कुछ देर
और चली आई
रातोंरात वापस निर्वासन में
वह आज तक हैरान है
उसे जल में तैरना कैसे आया
(अली अदालती के लिए)

नरक पर एक मिन्ट की फिल्म

बर्फ की आबोहवा से बाहर
जून की उमस भरी रात

पसीने से चुहचुहायी
मेरे कॉमरेड दोस्त की अस्थि–पिंजर दादी माँ
पोपले मुँह से लेती है जैसे गिनकर साँसें
तेजाबी धूप में
गल चुकी उसकी कमजोर हड्डियों से
चिमटी जिलद की झुर्रियों में
समय की तल्खी ....
डूबती उबरती है बची–खुची नब्ज़
जैसे प्रचीन सभ्यता की
अवाक् है
बुढ़ापे में निष्कासित वनमाल'
बेलौस आकांक्षाओं सी फैली
बर्फ–देश की अधिष्ठात्री देवी
पिघल रही है
धूप में
हम बना रहे हैं 'जीनोसाइड' के खिलाफ
कल निकाले जानेवाले जुलूस की रूपरेखा
अकसमात् गुल हो जाती है बिजली
जैसे डूब गए हों हम
उबलते काले समुद्र में
अब कोई शरणार्थी कैंप नहीं ....
'एग्जोडस' नहीं ....
'जीनोसाइड' नहीं ....
'नसल भेद' नहीं ....
कोई 'डायस्पोरा' नहीं ....
निःशब्द है रात
सक्रिय है उमस

गुम है हम
जैसे समकालीन इतिहास में
तंबू के उस कोने से
बुदबुदाने लगती है दादी की पीठ पर
पसीने की धार
''प्रभु, मोरे!
नरक से मोहे उबार..........''
और कौंपती है प्रार्थना–पंक्ति
टूटती मौन में
''यह है विस्थापन पर

एक मिनट की फिल्म'''

मै कहता हूँ अपने दोस्त से
जो शायद पसीना पोंछ रहा है
अँधेरे में ....

□

बंसी पारिमू1 से

तुम्हें समझाया था मैंने
मत करो चिनारों के काटे जाने पर हंगामा
मत चिल्लाओं डल झील की तबाही पर
मत कहो सिविल कर्फ्यू में भी
मरी हैं घरों में सत्ताईस मुसलमान गर्भवती बहनें
तुम्हें समझाया था मैंने
मत लिखो रंगों से ऐसी कविताएं
जो तुम्हें मरवा डालेंगी एक दिन
मेरी तरह

प्रसिद्ध प्रगतिशील चित्रकार

जब हम आए

जब हम आए
तो सीधे राजा से मिले
उसने कहा लो अब तुम हो गए
ऐतिहासिक

हम सीना तानकर निकले बाहर
हमें मिला था शब्द
जिसकी प्रतिध्वनियाँ
हो गई हहराता समुद्र
और हर पूनम की रात वह
लीलता गया लश्कर-लश्कर ।
इधर हो रही बहसें
क्या हमें होना चाहिए था
ऐतिहासिक
क्या उचित था हमारा
राजा से मिलना

राजा इसीलिए राजा है
क्योंकि उसके पास है यह शब्द
हम हुए ऐतिहासिक क्योंकि
हम इस शब्द से तिलमिलाए नहीं।

भव्य–द्वार पर लगी
चित्र प्रदर्शनी में
हमारे घर के पत्थरों पर
खुदा जा रहा था

इतिहास लेखकों का नाम
यह देख सकने के लिए
हमारे लिए था
कुछ पानी का इंतज़ाम।

□

जेल से पत्र

वे करते हैं
घर के तालों को
खींचने की बातें
घर हैं उनके पास ।
घर से निकलकर
वापस लौटने की बातें ।

हमारे घर थे
सुनकर दबाते हैं वे
अपनी हँसी
और जारी रखते हैं
अपने घरों के शेल्फों को
आगामी छुट्टियों में
साफ करने का क़िस्सा ।
देती हो तुम्हीं हमें
रस-सुगंध
जैसी भेजती है माँ
कारावासी बच्चों के लिए लज़ीज व्यंजन
माँ—वे कहते तो हैं बंधुवर

हँसते हैं मगर
हम भी हँसते हैं
भीतर–भीतर
सोचते हैं उन्हें तुम्हारी क्या ख़बर ।

दरबदर

पहले वे विसर्जित करते थे
अस्थियाँ
गंगा में आकर
अब वे बहाया करेंगे
अस्थियाँ को ले जाकर
वितस्ता में ।

□

जड़ें

घर पानी में था
बह गया ?
घर शिला पर था
ढह गया ?
घर सपने में था ? या सोच में ?
घर सचमुच था ?

बादल युद्ध के थे ?
चाँद शक्ल का ?
रोशनियों का ख़ासा तमाशा ?
हम लाम के भगोड़े थे ?
लाम पर लौट आए ?

यह अंधकार है ?
या हम अंधे ?
छत तो थी । होगी ? या छलनी
टीन की ?
आँगन तो था । होगा ? या ढेर
हथियारों का ?
हुक़्का था पापा का । होगा ?
कहा था न इसे रहने दो । गुड़गुड़ाएगा
शत्रु भागेंगे।
सोचा था न कि कुछ दिनों की बात है
लौट आएँगे।
क्या हम जागे हैं
पता नहीं चलता
खिड़कियाँ कहाँ हैं
ज़रा टटोलो
जहाँ जड़ें थीं
क्या हमारे वृक्ष गिरे हैं
या हम
जहाँ धरती में
जड़ें थीं ।

□

रात : 1

महीन धागे का मोटा गोला
हमने बुन लिए हज़ारों तम्बू
रफू किए हज़ारों तम्बू
फिर बुनी चादरें

फिरन और थैले
और भर दिए ।

पी–पी कर खाली करना चाहा
कि जल सके अलाव कहीं
लुढ़क गए पहाड़ से
नींद से निढ़ाल बच्चा
छोड़ दे ज्यों
सोई माँ का स्तन ।

ढाँप दिया ऐसे कर दिया ओझल
जैसे हमें न थी स्तन्य की
और ज़रूरत
या माँ से सटे रहना
नहीं थी अपनी किस्मत ।
काफ़ी सारा कर लिया
हमने बुन–बुन के
इसे ख़र्च
फिर भी पड़ा है
पूरा का पूरा ।

□

रात : 2

कुछ साँसें, कुछ हँसी
कुछ रोशनी
जल्दी–जल्दी पुड़िया बनाई इनकी ।

बाहर हमारा काम तमाम होना था
बचा भी जा सकता था
इसीलिए ।

हमें पहली ही चौकी पर रोका गया
– क्या पहाड़ी सैर पर जा रहे हो
कि साँसों की हल्दी
हँसी का शक्कर
रोशनी का नमक
जेबों में है ।

यह बच्चों की आँखों में पानी
ज़रूर उस पहली झील से
चुराया गया है ।
ख़ाली करो
एक क़तरा तक ले जाना जुर्म है ।

कई चौकियों पर तलाशी हुई
मैं बिछड़ गई लश्कर से
पर तस्करों की तरह मैंने
तीनों पुड़ियाँ निगल लीं ।

नन्हे हाथों को हाथों में पकड़
मैं एक विराट साँकल में बन्द हूँ ।

कहीं से लश्कर की
आवाज़ भी नहीं आ रही ।
आसमान ! अगर तुम मेरे ऊपर हो
तो तारों के ढक्कन खोल दो ।

मै अपने लश्कर से मिलना चाहती हूँ ।

□

क्षीर - भवानी

पंचस्तवी के शब्द
तुम्हारे चिनार-पत्र
हमने गाये थे
सामूहिक स्वर में
नहीं थी इतनी अधिक भीड़
इससे पहले
तुम्हारे आँगन में ।
वे भी आए थे
तुम्हारे बेटे
चिनार-पत्रों से छनती
अमरता की धूप सेंकी थी उन्हों भी ।
न रहा कोई
तुम्हें बंधाए जो ढाढ़स ।
हम फिर भी न होंगे नष्ट
वे जल की तरह हुए मेघ ।
नहीं रहा वह
तानसेनी पुजारी तक
गया क्या नाग के अतल में
और बदल न पाई तुम अक तक
वस्त्र ।
पंचस्तवी के शब्द

तुम्हारे नाग के जल-कण
रंगारंग पुष्पाच्छन्न
और तुम स्वयं कर रही थीं लास्य ।

कैसी थी उस जीवन के अंतिम-पर्व
में अथाह-सी, तुम्हारी मनःस्थिति
फिर क्या क्रुद्ध हुए पिता ?
क्यों हुआ तांडव ?
तुम्हीं ने कहा था
शस्त्रहीन होना सबसे सुरक्षित होना है ।
हमने नास्तिक विश्सास तुम्हारे नाग में
बहाए थे

हमने तुम्हें अपनी आँखों से
अविश्वास के साथ-साथ देखा था
तुम्हारा लास्य देख हम
सुख-दुख में रोए थे ।
तुम नहीं थी अमाप्य हिमगिरि पर
या व्योम में
फिर कहाँ से उगा जलोद्भव
जल-शून्य घाटी में
और जल गए कितने मेघ
मर गए अमस्ता की मृत्यु
भिड़ी हो अकेली

हम इसीलिए हैं क्षुब्ध
पंचस्तवी रख आई हूँ ताक पर
बाँधो तरंग *

पहनो उन पुष्प-पत्रों का परिधान
पार न होगा जिनके कोई बाण
हम मृत बच्चों को
जनोगी तुम्ही फिर ।

□

पिता का अंत

माँ का आँचल पकड़ बोले
पिता
चलो न वहीं
जहाँ हम थे
जहाँ के थे ।।

दुलारते हुए बोली माँ
घबराओ नहीं
जाएँगे वहीं
बिल्कुल वहीं

जहाँ थे, जहाँ के थे ।।
चूहे बन हम छान मारेंगे
अपने घर के एक-एक कमरे का
एक-एक कोना
कुतरेंगे उनके हृदय
उछल–कूद घूमेंगे उनमें
निरापद निर्विघ्न ।।

भाँपेंगे डर तो
अंधकार भरे बिलों में

उतरेंगे छिपेंगे.......
रहेंगे अब यों वहाँ
जहाँ थे, जहाँ के थे ।।

न हुआ तो पिपीलिकाओं के
पूरे समुदाय में छतों पर
चढ़ेंगे उतरेंगे पंक्तिबद्ध
समाकांक्षी–बंधुगण अनुगामी
अब भण्डार भरेंगे।
दहलीज से धुसकर
रहेंगे भीतर
त कोई गोली चलेगी
न फटेगा बम
पता भी त चलेगा उनको
कि लौट आए हैं हम ।।

न हुआ तो पक्षी बनकर

चुगेंगे अपनी खिड़कियों की
मुंडेरों पर उनके दाने ।
न मारेगा कोई मज़हब
त मरवायेगा कोई धरम ।।
चहकेंगे आँगन की
वृक्ष–फुनगियों पर
दालानों से प्राय : घुसेंगे
अटारी में अपनी
करेंगे प्रेम
अपने कमरों में उन की

मनपसन्द चीज़ो पर करेंगे बीट
भाँप खतरा
उड़ छिपेंगे
सुरक्षित हम।।
अर न हुआ तो होंगे
अपने मुहल्ले के श्वान
और न हुआ तो
दुबकेंगे कहीं बरामदे की
बस छोटी – छोटी जगह
बिल्लियाँ बन
लगायेंगे 'म्याऊँ म्याऊँ'
में "घर छोड़ दो" के न ।

और न हुआ तो होंगे
कीट-पतंग अपने आँगन ।।

शीघ्र ही मिलेगी मुक्ति
होने से मनुष्य
जाएँगे वहीं
जहाँ थे, जहाँ के थे ।
प्रतीति है मुझे ।।
हाय ! होना अपने शहर मे ।
होता है होना अपने घर मे ।।

महाराज कृष्ण संतोषी

निर्वासन में जन्मदिन

अभी-अभी बजा गय मेरा जन्मदिन
उम्र का उनतालीसवां घंटा
तभी कोई भीतर पुकार उठा
एक डरे हुए हिरण का जन्मदिन
बधाइयां ! बधाइयां !
पलभर मुझे भी अनुभव हुआ
कि नाभि से सींगों तक
मैं उन की शिकारी आंखों के
ठीक सामने
पूरा जंगल दौड़ रहा हूं
लेकिन अपनी खाल में
पुनः वापस आकर
मैंने सदा-सदा के लिए पोंछ डाला
अपनी आंखों के सूखते हुए पोखर में
इस डरे हुए हिरण का बिम्ब

अभय-अरण्य-घर की स्मृतियां
दूर फेंकते हुए
आज मैं खुश हूं अपने जन्मदिन पर
यह जानते हुए भी कि
माँ के बनाए हुए पीले चावलों से
अलग नहीं है
मेरी व्यथा का रंग

आज मैं खुश हूं कि उनतालीस नहीं
मेरी आयु पांच हज़ार वर्ष पार कर चुकी है
मैं खुश हूं कि लावारिस नहीं हूं मैं
इतिहास मेरा पिता है ।
(मोती लाल साकी के लिए)

अल्पसंख्यक

स्लेट पर लिखी
किसी बच्चे की इबारत नहीं हूं मैं
कि जब चाहा पोंछ दिया जाऊँ

अपने चेहरे पर
अल्पसंख्यक होने का डर लिए
मैंने कभी सच को
अभिव्यक्त नहीं होने दिया
भाषा से लिबास तक
मैं हमेशा स्वयं को छिपाता रहा हूं

आकाश में सुराख करने वाले नारों
और बदन मे छेद कर देने वाली गालियों के बीच
जिन्दा रहा हूं मैं
पूरी सभ्यता के साथ
यही मेरी संघर्ष गाथा है
संख्या में नगण्य
मगर
मानवीयता में सम्पूर्ण हूं मैं
इसीलिए अपनी सारी मानवोचित गरिमा के साथ
कहता हूं –

मैं कायर और निडर
दोनो एक साथ हूं
मृत्यु से डरता हूं
लेकिन जीवन बचाने के लिए
कोई भी जोखिम उठाने को तैयार हूँ
स्लेट पर लिखी
किसी बच्चे की
इबारत नहीं हूँ
कि जब चाहा पोंछ दिया जाऊं

□

एक बार गाँव लौट कर

सूँघते ही मेरे पाँव की गंघ
गली मुझसे लिफ्ट गई
और रोते–रोते साथ मेरे
घर तक चली आई

दरवाजे ने देखातो हर्ष में अपनी साँकल हिलाई
खिड़कियां
मुझसे बात करने
अपनी दीवारों से बाहर निकल आई
सीढ़ियां
मेरे हर कदम के नीचे
मेरा चुम्बन ले रही थीं

दीवारों ने कहा
हम कच्ची ज़रूर हैं

पर हमारे स्पर्श में
मिट्टी की खुशबू है

छत ने देखा तो रो पड़ा
मेरी आत्मा के छिद्रों में

बर्फ और बारूद के बीच
सांसे लेता हुआ
मैं लौट आया था अपने घर
जहाँ अपने दादा के साथ बचपन में
मैंने तुलसी की चौपाइयाँ गाई थीं

जहाँ सन्ध्या होते ही
माँ दिया जलाती और कुछ बुदबुदाती

इतने बरसों बाद
फिर देखा मैंने वह दिया
पर कितना उदास और मलिन
याद करता हुआ वह दिन
जब पहली बार
उसकी लौ पर संदेह प्रकट किया गया

सोचता हूँ
मैं कैसे रहूँ फिर उस घर में
जहाँ मैं दिया जलाने से भी डरता हूँ ।

□

चुप्पी

जब देवता हमारे पास थे

तब हमें भरोसा था
वे हमारे साथ हैं

अब जब देवता
न हमारे पास हैं
न हमारे साथ
हमने बनाई उनकी अनुकृतियाँ
और विस्थापित बस्तियों में
प्रतिष्ठित किया

अब देवता हमारे पास भी हैं
हमारे साथ भी
पर अब वे बोलते नहीं हैं।

□

नीलनाग का दुःस्वप्न

1

हवा में
फड़फड़ा रहे हैं
नीलमत पुराण के पन्ने

शताब्दियों के बाद
किताब से बाहर निकल आया है
नीलनाग
नंगे पांव
यहाँ इस शिला तक
कुछ आहत कुछ विचारमग्न
किसी ने

उसे अपने रुदन से जगाया ह

पता नहीं
वह कौन था
नाग या मानव
पर इससे क्या अंतर पड़ता है
रोने वाले की वेदना का नहीं होता
धर्म
जात
देश ।

□

2

उदास है नीलनाग
जब से वह जागा है
और सोच रहा है
पल-पल ठंडाती शिला पर
जिन शिखरों को
ईश्वर ने नाम दिए थे
वे ही अब कितने अपवित्र हो गए हैं

उज्ज्वल बर्फ पर
ये किनके पाँव के निशान
मन में उत्पन्न करते हैं भय

ये कैसे काँच के टुकड़े
बिखरे है फूलों के बीच
जो लहूलुहान करते हैं

तितलियों के पंख

ये कैसी–कैसी आवाज़ें गूँजती हैं

जो धड़कते हुए दिलों को सहमा देती हैं

फिर ऐसा सन्नटा

पसर आता है चारों ओर

कि बोलना अपराध लगता है

उदास है नीलनाग

कोई समीप भी नहीं

कि जिसे वह सुनाए अपनी व्यथा

□

3

अकस्मात जल काँपा वितस्ता का

और एक हताश छाया

डूब गई उसमें

पर किसी ने नहीं देखा

जल भी नहीं जान पाया वह क्यों काँपा

जाग रही थी जल में

उस समय केवल एक मछली

टूटा कश्यप का ध्यान

समाधि छोड़ आया वह पहाड़ से

वितस्ता के पास

बोला क्यों चीखी थी मेरे ध्यान में

कुछ नहीं कहा वितस्ता ने

हवा में उभरा केवल एक संकेत

चिंतित हुआ कश्यप

सोचने लगा
ये सब कैसे हुआ?
रात
उसे आया सपना
देखा
किसी ने उसके कमंडल में
मरी हुई मछली रख दी थी

जागा ऋषि
देखा अदृश्य हो गई थी मछली
और कमंडल में ज़ल नहीं लहू भरा था

वह हुआ विस्मित
फिर लगा सोचने
यह हमारे किस अंत का प्रतीक है?

□

4

उदास है नीलनाग
टटोलता है
अपनी ही लिखी पुस्तक के पन्ने
सोचता है
क्या सचमुच मर गया था जलोद्भव!

नीलनाग : सतीसर मिथक का नायक।
कश्यप : कश्यप ऋषि जिनके नाम पर कश्मीर का नाम पड़ा।
जलोद्भव : सतीसार मिथक का दैत्य।

सावधान! यह पृथ्वी का स्वर्ग है

सावधान !
यह पृथ्वी का स्वर्ग है
यहां रहना चुप
न कुछ ऐसा सोचना
न कुछ ऐसा बोलना
न कुछ ऐसा सुनना
शब्द मृत्यु है यहां

सावधान !
यह पृथ्वी का स्वर्ग है
यहां हरियाली की तरह फैला है झूठ
और सच
जैसे कोई परकटा पंरिदा
जिसकी व्यथा
हवा में उपस्थित रहने के बावजूद
हमेशा अनसुनी रह जाती है

सावधान !
यह पृथ्वी का स्वर्ग है
यहां नदियां, झील, पहाड़,
फूल–वनस्पत्तियां सब है
पर आंखे भूल गई हैं देखना
और दिल धड़कना
सिर्फ सतर्क है कान
जिन्हें हवा ने सिखा दिया है
आवाज़ों का व्याकरण ।

सावधान !

यह पृथ्वी का स्वर्ग है

यहां दरवाज़े कांपते है दस्तकों से

और खिड़कियां हवा से

मौसम हो चाहे कोई भी

यहां परिंदों के लौटने का

कोई समय नहीं

क्योंकि यहां दिन का अवसान

सूर्य डूबने से नहीं

गोली चलने से होता है।

□

ऐसा क्यों होता है

जंगल मित्र था मेरे गाँव का

नदी थी प्रेमिका

बर्फ बहन

और माँ चिनार की छाया

वे जब आए तो सबसे पहले

मित्रता में झूमते पेड़ों को काट डाला

फिर किया लहूलुहान मेरी प्रेमिका को

यह देख सहम गई मेरी बर्फ–बहन

और डर के कारण

चिनार से उतर गई उसकी छाया

क्रूरता हवा में थी

और रोशनी गवाह बनने से

इंकार कर रही थी

अंधेरे में सोई पड़ी थी
मेरे इतिहास की किताब
कुछ थे जो उस अंधेरे में
इतिहास की सियाही बदलने की
कोशिश कर रहे थे !

नींद और जागरण के बीच
डोलता हुआ
मैं अपने भीतर इतिहास की बू लिए
अक्सर यह सोचता हूँ
ऐसा क्यों होता है
जब आदमी डरने लगता है
अपनी ही पगड़ी से
या अपनी ही दाढ़ी–मूँछ से
जैसे इस समय
मैं डर रहा हूँ अपने नाम से।

□

शांति प्रक्रिया

उन्होंने हत्याएँ कीं
पर हत्यारे नहीं कहलाए
कभी–कभी इतिहास
हत्यारों का कितना मान बढ़ा देती है!

वे जिनसे जंगल की हरियाली
और नदी का जल काँप उठते हैं
वे ही आज अपने सफेद कबूतरों के साथ

पहाड़ से उतर आए हैं

उन्होंने पहना रखे हैं
अपने इन कबूतरों के गले में
हरे रंग के ताबीज़!
ताबीजों मे एक–एक सपना है उनका
खुदा द्वारा हस्ताक्षरित

कभी वे ले आते हैं सफेद कबूतरों को
अपनी हथेली पर
और कभी उन्हें बंदूकों के पीछे
छिपा लेते हैं

मैं जब भी देखता हूँ
इन कबूतरों को
तो डर जाता हूँ
कैसे न डंरू
वे दूर दिखे या पास
लहू की छींटे
मेरे ही लिबास पर
गिरा देते हैं।

महाराज कृष्ण भरत

निष्कासन दिवस

नकाबपोश हो गए हैं लाउडस्पीकर
बज उठे एक साथ सहस्त्र
मुखों से
काल के अनगिनत फनों सी है दिशाएं
खबर है
नल के पानी में उतरेंगे अब सांप
बिजली के तारों में
जुनून का करंट है।
फलक पर दिख रहे हैं

बेशुमार
आग के गोले
हवा में लहरा रही है
हरे रंग की इबारत
तय है अब तारों का पलायन
ओझल है अपनी जगह से चंद्रमा

मेरे पिछवाड़े उग आया है चाँद।
समय से की गई है छेड़छाड़
रोक दी गई है सूइयां मेरे देश की

जैसे मेरे देश में दो विधान हैं दो निशान हैं
अब मेरे देश में
दो बार बज उठेगा
एक ही समय

सूर्य का अगली सुबह

अब देर से उगना तह है।
हम निकल पड़े हैं
समय की सूईयों को
अपने देश से मिलाने के लिए
न जाने रात के किस प्रहर में
बज उठे
नई घड़ी का अलार्म।

□

इतिहास–एक

मैने प्रण कर लिया है
मैं अपना इतिहास
किसी की दया पर
नहीं लिखूंगाा
स्वयं गल–गल कर दधीचि बनूंगा
कि मेरा हर अंग बनें–
एक नए इतिहास की नींव ।

मैं उधार में नहीं लूंगा
किसी और का साहस
स्वयं जल-जलकर
पिघला दूंगा अपने भीतर का लोहा
लोहे को ही इस्पात
बनाया जा सकता है।

मैं हमेशा नरसंहारों के आंकड़े
अपने साथ लिए फिरता हूँ
मेरे अपनों की रूहें भटकती हैं
पूछती हैं मुझसे सवाल
कविता : आग का गोला क्यों नहीं हो सकती?

अपहरण से लेकर
गला रेतने तक की सज़ा के बीच
कविता की नसों को
काटने तक की यातना सहने के बाबजूद
तुम कहां छुपे हो कवि
यह समय मरसिए का नहीं
ना यह दौर सूफियाना
बंद कमरों में
भाग्य की रेखाओं को
किसी कलम से
गाढ़ा करने का भी समय नहीं है
गोलियों की बरसात
दरख्तों में उग आए मानव कंकालों पर
किस–किस का नाम लिखा है
यह तो समय का दंश
झेलने वाले ही जानते हैं ।
यह समय
पीड़ाओं को बारूद के कणों में
बदलने का है
सपने जगाने का है।

इतिहास हर कोई नहीं लिखा सकता

इतिहास लेखन के लिए
बेघर होना लाजमी है
घरों में जो इतिहास लिखे जाते हैं
वे इतिहास ग्रन्थ
किसी शेल्फ में पड़े रहते हैं
किसी परीक्षा को रटने के लिए
बार–बार पढ़े जाते हैं।
मैं जिस इतिहास की बात करता हूँ
वह हर चौरहे पर मिलेगा
जीवंत
कहीं लहूलुहान
वह किसी घड़ी की रुकी हुई सूई का
प्रतिनिधित्व नहीं करता
बिजली के करंट का
दिलाता है एहसास
वह इतिहास कैम्पों से लेकर
घरों तक की याद को
ताजा करता है
जी रहा होता है
शरणार्थियों के सपनों में।
वह इतिहास
भीष्म की प्रतिज्ञा से शुरू होता है
और दधीचि बनकर ही जीता है
तुम किस इतिहास की बात करते हो
मैं नहीं जानता।

□

इतिहास–दो

मुर्दाघरों में पड़े शवों
मातम के बाद छायी उदासी
नसों में ठहरे रक्त का
इतिहास नहीं लिखा जाता।

इतिहास लिखने के लिए
झेलने वाले दिलों
लोहे को पिघलाने वाले हाथों
और भूख की तड़प का एहसास
होना अनिवार्य है।

किसी युग/काल में

रचा गया इतिहास
आज के इतिहास ग्रन्थों की
इबारत नहीं हो सकती।
युद्ध करने के दांव–पेच बदल गए हैं
भाषा और वेशभूषा बदल गई है
लक्ष्य और स्थल भी बदल गए हैं।
इतिहास लिखने के लिए
आओ ।
शहीदों की तिथियों से
अपने माथे पर
तिलक कर दें
जलावतनी का लिबास उतार फेंके
हम लिख दें–
चिनार के पेड़ों पर

अपनी वापसी का इतिहास ।

19 जनवरी 1998

निष्कास्नदिवस

□

आज जम्मू बंद है।

वे आते हैं बेरोक–टोक
भेदते हमारे सुरक्षा कवच
रसोई घर से शयन कक्ष तक
रौंदते हैं हमारे जीवन की हर खुशी
परोस देते हैं भोजन की थालियों में
एके–४७ रायफलों की गोलियाँ
चूल्हे की आंच पर अधपके भोजन में
गिरा देते हैं हथगोले
भूखे पेट ही सदा के लिए सो जाते हैं–
खाट पर फटेहाल सुस्ताते
दिहाड़ी मजदूर और उनके बच्चे।
अम्माँ रसोई घर में
खुद ही पक रही है
खून से लथपथ है शिवलिंग का
पावन स्थल
साधुओं के वेश में
झुग्गी बस्ती में घुस आए हैं
बहरूपिए।

चीत्कार कर जीवंत हो उठते हैं
हमारे सामने

नरसंहारों की भटकती आत्माएँ
कोसती हैं हमें,
बच्चों की हड्डियों को चीरकर–
सरहदों पर सेंध लगा दी गई है।
रेलवे स्टेशनों पर छितराए
जूते–चप्पलों को देखकर
हम अपनों की शिनाख्त करने लगते हैं

बंद का आह्वान ही हमारा संतोष है।
फुँकार रहे हैं शहर में
आदमी के कद के साँप
नकाबपाशों के साये
ग्रस ही लेते हैं किसी भी लौ की
और
संसद मौन है
13 दिसम्बर के बाद भी।

□

घर वापसी–एक

कल तक मैं कल्पनाओं में
खोजा करता था जो घर
आज साक्षात् मेरे सामने खड़ा है
दूर-दूर तक

मैं कहीं नहीं हूँ।
बंकर से मुस्तैद आँख की नज़र में
नकाबपोश हो गया है पूरा शहर

सरहदों की सेनाएँ
गश्त लगा रही हैं–
गली–कूचों में,
मनाही है किसी की ओर देखना
किस गोली पर किस का नाम लिखा है
यह पहले ही तय हो चुका है
केवल क्रास फायरिंग में
भागय आजमाने की छूट है।

बदल गई है शहर की भाषा,
बसों के सायरन–

बमों के धमाके,
एक से लगने लगे हैं
थम गई हैं सड़कें
ठहर गया है कहीं वक्त।
यहाँ की चुप्पी में छुपा शोरोगुल
शांति के खिलाप विद्रोह है

अमन रैली को सम्बोधित करने से पहले ही
घायल हो जाता है मंत्री
शहर के बीचोंबीच
आम आदमी से पहले
बढ़ा देता है अपना पहरा।
ऐसा नहीं कि डलझील
जम चुकी है
चार–चिनार तक पहुँचने के लिए
किश्तियाँ नहीं हैं

या फिर कोई वाहन
किसी पड़ोसी देश के नगर की
रट लगाए
मेरे गाँव से नहीं गुजरता।
मेरा रास्ता रोके खड़े हैं
ये विशाल चिनार
जिन की गोद में
मैं पला बड़ा
नहीं चाहते हैं मुझे देखना
अपनी लटकती शाखाओं के साथ।
घर, जो विरासत में मिला था
फिर छोड़ के जा रहा हूँ।

□

घर वापसी – दो

यहाँ कविता रचना
झूठ के खिलाफ़ बगावत है।
उनके लिए–
'जेल' भी
यहाँ एक सहज यात्रा का नाम है।
देश में जो 'पोटा' कहलाता है
यहाँ पहुंचते–पहुंचते
किसी क्रास फायरिंग का शिकार
हो जाता है।
'पोटा' की शहादत पर
संसद में हंगामा है,

लोकसभा सत्र
अनिश्चितकाल के लिए
रोक दिया है।
इन दिनों
जो भी कश्मीर जाता है
श्यामा प्रसाद मुखर्जी ही बन के आता है।
ओक भर जगह देने से डरता है
आज मेरा शहर
मेरे आतिथ्य सत्कार के लिए
एक साथ जलती
कई चिताओं की लपटों सा
खड़ा है।

□

नींव! तुझे नमन

जब मेरा घर जला होगा
बचपन जला होगा
अतीत की स्मृतियाँ
पूर्वजों का इतिहास
जला होगा
तब कितनी तड़पी होगी
काया
मेरे घर–दवार की।
मैं शर्मिंदा हूँ मेरे घर
मैं तुम्हारे साथ
न जल सका

पर तुम्हारी व्यथा से अलग नहीं है
मेरी तड़प
मैं हर बार तड़पा हूँ
तुम्हारे लिए
तुम तक पहुँचने के लिए।
जब तुम यहाँ
झुलस रहे थे– भभकती आग में
तब मैं तुमसे
सैकड़ों मील दूर
तुम्हारे दर्द में शामिल था।
यहाँ गिर रही थी
तुम्हारी छत
वहाँ मैं
बेसाया हो रहा था
यहाँ ढह रही थी तुम्हारी
एक–एक मंजिल
वहाँ मैं भी
ढह रहा था।
जब तुम यहाँ
बन चुके थे मिट्टी का ढेर
तब मैं भी वहाँ
मटियामेट हो चुका था
और रेतीली ज़मीन बनी थी
मेरा बिस्तर
खुला आसमान–साया
आज मैं भी खंडहर हूँ–

तुम्हारी तरह।
मेरे घर!
तुम पर गर्व है मुझे
अब भी बचा रखी है तुमने
मेरी नींव
और मैं भी
तुम्हें आश्वासन देता हूँ
इसी नींव पर
तुम्हें फिर खड़ा करूंगा
बिखरी इतिहास की परतें
फिर समेटूंगा
तभी मुझे सुकून मिलेगा।
अलविदा मेरे घर।
तुम्हारी याद–
सावन की बूंदों की प्रतीक्षातुर
चातक की तड़प है
किसी रेगिस्तान में बरसात की प्रतीक्षा।
मंगलपाण्डे, अशफाक उल्ला के
लहूलुहान बदन से टपकती शहादत की बूंदें हैं
ऊधम सिंह की कसम है।
बिस्मिल के गीतों की तमन्ना।
तुम्हारी याद–
चंदबरदाई का दोहा है
किसी आततायी का
सुर कलम करना है
जुल्म के विरुद्ध उठी

रानी झांसी की कटार है
महाराणा प्रताप का शौर्य है।
तुम्हारी याद–
हब्बाखातून* की प्रतीक्षा है
अरणिमाल* के दर्द की टीस है
माँ के स्पर्श का एहसास खोजती
किसी बच्चे की उज्सुक नज़र है।
तुम्हारी याद–
पार्थिव शरीर को
विदाई देती बेदना की हूक है
जल जाने की वह कसम है
कि आत्मा
तुम में विलीन होगी
केवल
तुम में।

प्रदीप कौल

सच कहूं

मैं तुम्हें क्यों देखूं
तुम्हारा सच
क्या मेरी सोच से परे है?

वह चांद तुम्हारा
कभी पूरा
कभी अधूरा
उस पर कैसे करूं भरोसा
और वह तारों की सेना
जैसे सिर्फ प्रदर्शन के लिए।

तुम ही कहो
क्या यह सच नहीं
तुम्हारे ही आंखों के सामने
मैंने खोया
अपना घर
अपना वतन

सच कहूं
उठ गया है
अब तुम पर भी मेरा विश्वास
हे आकाश!

डा॰ रोशन सराफ

''दहशत की दसतक''

फिर एक दसतक किवाड़ पर—सहमी सी हर नज़र,
दो ख़ामोश आहट दहलीज़ पर—कहर सी इधर उधर।
दो लम्हा आतंक का कैसे कहूँ—यकलख्त हुआ था लहू ,
बयां उस मंज़र को कैसे करूँ—और वो चंगेज़ी फितरत की तीखी बदबू।

अटक के साँसे हलक में गुम हुइ—बेबस फरियादें चुपके रोयीं,
बदन की गरमी ओस बनके पिघल गई—मेरे सपनों की इमारत ढह गई।

मेरा हिंदू होना जैसे पाप हुआ—माथे का टीका अभिशाप हुआ,
कश्यप की धरती का अमन लहूलुहान हुआ—मैं दफ़न बिना कफ़न हुआ।

अब के वितस्ता बदलके रंग—लाशों की कश्ती अपने संग,
शीतल लहरें वो शोख उमंग—अपने ही किनारों से कर रही थी जंग।

बीवी बच्चे आँखे खोले—तैरते आँसू सब कुछ बोले,
आँगन प्रांगन में दहशत के शोले—कांपते बदन पर द्वेष के ओले।

किस किस को साथ लूं वनवास में—बाप और बेटा इंतज़ार में,
समेटूँ क्या उजड़े दयार में—दहकते अँगारे सुलगते बहार में ।

उस दिन आकाश कुछ धुँधला था—उफ़क इंद्रधनुष का फ़ीका था,
सूर्य की दमक का रंग कुछ नीला था—अमृतझील का कमल भी पीला था

बाँदके ''रोशन'' यादों को—छोड़ आया मैं अशियाँ को,
बसन्त की महक और चिनार को—भूल आया अपने अस्तित्व को।

हिन्दी कहानियां

आवाज

-चन्द्रकांता

अमावस की ठस्स अंधेरी रात पहाडों की पांत से घिरे गांव की ढलुवां छतें है कि कजलाए ढूह और कोयले के ढेर। भूत–प्रेतों की आकारहीन शक्लों में घात लगाए खड़ें लम्बे ऊंचे दरख्त। झीना–झीना मेह अभी अटक–अटक कर बरसे जा रहा है।

कीचड़ कांदो में घुटनों तक सनी लड़की छाती से पोटली चिपकाए उबड़–खाबड़ जंगल से बदहवास गुज़रती खण्डहरों में पहुंच गई है। अंधेरे में मुड़–मुड़कर आहटें टोहती वह बूढ़े चिनार के तने से पीठ टिका, चौतरफ के परिदृश्य का अन्दाज़ा लगाना चाहती है। कौन–सी जगह है यह? पुलवामा? अनन्तनाग? बिजबिहारा तो नहीं?

आसपास कोई बस्ती नज़र नहीं आती। काले खम्भे मुंह नाक ढके 'मुजाहिदों' की तरह आसमान में बन्दूकें ताने खडे हैं। शायद वह मार्तण्ड के खण्डहरों में पहुंच गई है।

उसने आसपास टटोल–मटोल कर धरती को थपथपाया। नोकदार खुरदरे ढोक चट्टानों को हथेलियों से महसूस करते घिसट–घिसटकर सुरक्षित–सी ओट ढूंढ़ ली। चौड़ी–सी चट्टान हाथ लगी, शायद ललितादित्य के समय की कोई ध्वस्त मूर्ति हो।

आसमान में काले बादलों को चीरकर रोशनी की तलवार खिंच गई और पत्थरों का ध्वस्त साम्राज्य आंखों के आगे नंगा हो गया। हां वह सचमुच ललितादित्य के आठवीं शताब्दी में निर्मित, खण्डहर हुए मन्दिरों के प्रांगण में आ पहुंची है। 'उन लोगो से' काफी दूर। वे इधर नहीं आएंगे। आसपास ही कहीं सेना के ज़वान पहरे दे रहे होंगे।

मन भर वजनी टांगे फैलाते उनके आंसू निकल आए। घुटनों में पीप फोड़े की तीखी पीर चीस रही है। गोद में ढकी मुंदी बच्ची में सांस की आवन–जावन भी नहीं लग रही। शायद बेहोश हो गई है। उसने कपड़ा हटाकर बच्ची का मुंह खोल दिया। नाक के पास हथेली रख उसकी सांस महसूस की। ठण्डे हाथों से गुनगुनी सांस छू गई तो भीतर कुछ सख्त–सा जमा बूंद–बूंद पिघलने लगा। आदी हो जाता है आदमी हर जुल्म का। चारेक मास की बच्ची भी इस नियम अपवाद नहीं।

उसने बच्ची के कोमल गाल अपने गालों से सहलाएं, हिलडुल से बच्ची कमजोर आवाज़ में किंकियाई इयां......... इयां..........।

लड़की की छाती में गुनगुनी लहर उमड़ आई। उसने कमीज के बटन खोल दिए। उंगली से बच्ची के होंठ टटोले और उसकी नाक बचा कर दूध पिलाने लगी। भूखी बच्ची के होंठों में हरकत हुई, हल्की–सी, पर जल्दी ही वह आकुल खोज में यहां–वहां मुंह मारती, नन्हे हाथ मां की छाती पर रख दूध चूंघने लगी।

लड़की ने बाहों में लगभग भींच कर बच्ची के बालों में उंगलियां फेरीं। दूध पीते उसकी आधी गज भर देह रह–रह सिहर उठती थी। लड़की ने चुन्नी का छोर निचोड़ बच्ची का सिर–माथा पोंछ दिया और अपने शरीर से चिपकाकर गर्मी देने की कोशिश की।

पत्थरों की ओट में बैठी लड़की अब वर्षा से सुरक्षित थी। चट्टानों के बीच यहां वहां उगी जंगली घास और बिच्छू बूटियों के बीच कहीं–कहीं जूगनू चमक रहे थे जिससे अंधेरे में छिपी अपशकुनी आकृतियों का अहसास तीव्र होकर भयावह लगने लगता था।

दूर बहते किसी नाले की हहराती शांय–शांय गहरी खामोशी को तोड़ रही थी।

किसी खण्डित मूर्ति की टेक लगाकर बैठी लड़की की चेतना सुन्न हुई जा रही थी। भागते छिपते किसी कटे पेड़ की जड़ से टकरा, पैर के अंगूठे में खोंता लगा था। वह जगह बराबर टीसे जा रही थी। खून भी वह हो शायद। गीली मिट्टी में लथपथ पैरों को, खून और पानी का फर्क समझ नहीं आता।

तृप्त होकर बच्ची मां की गोद में गुड़ी–मुड़ी होकर सो गई। लड़की भी सोना चाहती थी, पर अपशकुनी अन्धेरा उसकी नसों पर हावी हो रहा था। करकती आंखों से वह आठवीं शती के उस महान सम्राट के साम्राज्य को चीह्नने की कोशिश कर रही थी जो अपने ही विश्वस्त सेनानायकों द्वारा छल से मारा गया था।

इस काली रात में क्या उस सम्राट की रूह यहीं कहीं भटक नहीं रही होगी? विजेताओं को अपने अमर साम्राज्य का खण्डित चेहरा देखकर कैसा लगता होगा?

नींद के झोंकों से लड़की की गर्दन झकोले खा रही थी? आधी जाग्रत, आधी सुषुप्तावस्था में, कभी आखें मुंद जाती, कभी चौंक कर खुल जातीं।

पत्थरों के बीच किसी रेंगते जीवन के खिसकने–सरकने की आवाज़ से वह चौकन्नी हो आई। काई भरी दरारों से लम्बा सा सांप सरककर उसके पास गुजर गया था।

कितने भयानक सांप रहते होंगे इन खण्डहरों में। कहीं काट लेता तो इस नन्हीं जान का क्या हाल हो जाता? उसे तो खैर क्या डस लेते। साल भर से जहरीले नाग और बिच्छू उसकी देह में इतना जहर भर गये है कि सांप काट भी ले तो खुद ही मर जाए।

सांप की तरफ ध्यान जाते उसकी ज़बरदस्त इच्छा हुई कि वह

उन्हें एक बार देख ले। मरे हुए सांपों का दाह–संस्कार करना ही चाहिए, मां कहती है। नहीं तो उनका कोई वंशज बदला लेने जरूर आ जाता है।

लेकिन क्या पता, सांप मरे ही न हों और उसका पीछा कर रहे हों, दबे–दुबके खोहों–दर्रों में रेंग–रेंग कर।

उसे लगा सफेदों के जंगल बीच भागते, खलिहानों की कीच में धंसते पैर खींच कर निकालते अधमरे सांप बराबर उसका पीछा कर रहे थे। बच्ची की चीखों से उन्हें दिशा बोध न हो, इस ख्याल से उसने बच्ची का मुह ओढ़नी से बांध दिया था। ऐसा करते उसके भीतर हूक–सी उठी थी। वे लोग लुकने–छिपने के दौरान हमेशा बच्ची का मुँह कपड़े से कसकर बांध देते थे। उसकी चीखें बन्द हो जातीं और नन्हे गालों पर पानी ढुलक आता।

लेकिन भावुकता के लिए उसके पास वक्त नहीं था। वे उन्हें पा गए तो छोडेंगे नहीं, यह तय था। बच्ची की आवाज़ बन्द हो गई तो पेड़–पौधों के बीच सांस लेती जीव–जन्तुओं की ध्वनियां मुखर हो उठीं।

वे लोग शायद वापस लौट गए हों, कमाण्डर ने लौटने का आदेश दिया होगा। या लड़की के पीछे भागने से ज़्यादा ज़रूरी काम याद आ गया होगा। क्या पता! नया साम्राज्य बनाने की ज़िद में जेहाद करने वाले तो कहते भी हैं कि उन्हें अगले पल का कोई अता–पता नहीं होता।

लड़की ने मार्तण्ड के खण्डहरों के प्रति आभार–सा महसूस किया। यह ओट न मिलती तो अपने पैरों की आहटों से ही वह मारी जाती। साल भर उसने मरने की कामना भले ही की हो, अब वह जिन्दा बच निकलना चाहती थी।

बैठे–बैठे पीठ पर सुरसुराहट–सी दौड़ी, उसने खम्भे से पीठ रगड़ ली। कोई कीड़ा था शायद! मसल गया होगा। पास ही कहीं बिच्छु बूटी

के झाड़ होंगे। टटोल–टटोल धरती छूने और रास्ता तलाशने से, हाथों में खासी खुजली भरी जलन मच रही थी। उसने नोकदार पत्थर से रगड़–रगड़ अपनी हथेलियां छील दीं।

दूर से नदी का स्वर विलाप कर रहा था अंधेरी रात का स्यापा। चूर हुई देह इस एकान्त सदन की गूंज से सुन्न हुई जा रही थी। या शायद वनस्पतियों की महक का प्रभाव हो।

काले कैनवस पर तेज़ी से रीलें खिचतीं जा रही है। एक के बाइ दूसरी। लम्बे–लम्बे हाथ झपटकर अन्धी खोह में खींचे जा रहे हैं।

बिनी। बिनू। निकी। रा.......... नू .... पास से गुजरती आवाजों का कारवाँ।

हिकटा मिकटा वोय अनिगग हून्य काह..............
कीकली कलीर दी। पग मेरे वीर दी ....
कीकली कि खैनू? कि चोर सिपाही?
नहीं। आल माल पहला थाल, मां मेरी के लम्बे बाल.........

कितने लम्बे बाल थे मां के। जब उन्होंने केश पकड़कर मां को घसीटकर कमरे में पटक दिया, तो उसके बाल कमर तक फैल गए थे।

वह शायद प्रलय की रात थी। ओले, तूफान और आंधी। खिड़कियों, दरवाजों की चूलें हिल उठीं थी। मां–पापा के साथ वह भी खिड़कियों की चिटकनियां लगाने में जुट गई थी। उस दिन शहर में कर्फ्यू। बिजली गुल। सांसे भी डर–डर कर बाहर आ रही थीं। मां–पापा और वह एक रजाई में घुस सोने की कोशिश कर रहे थे। तभी दरवाज़े पर थापें पड़ने लगी थीं। पापा दरवाज़ा खोलने उठे तो मां ने उन्हें रोक लिया था। 'पहले झिर्री से देख लो।' कुछ नहीं होगा। सफेद रूख चेहरे से पापा दरवाज़ा खोलने मुड़े कि चार युवक लातों से द्वार तोड़ ठसके से घर में घुस आए।

काले कपड़े से मुंह–आंख ढँके।

मां की चीख निकल आई, ''ये..... ये तो यमदूत हैं।'' ''डरो नहीं, हम तुम्हें मारने नहीं आए। रात भर रहकर सुबह सवेरे चले जाएंगे।

''हां–हां..........'' पापा ने जाने कहां से बेजान हाथों में हरकत लाई, ''आइए.......... आओ बेटा!''

''हमारे पीछे पुलिस लगी है। कोई अगर पूछने आए तो कहना, यहां कोई नहीं है। समझे?''

''हां........हां..............'' में सिर हिलाते पापा खातिरदारी में लग गए। मां ने दूसरे कमरे में गद्दे खेस बिछा दिए।

''हमें भूख लगी है, खाना खाएंगे'', उन्होंने हुकुम दिया। जैकट वाला युवक शायद उनका सरदार था। अपनी तरफ का तो नहीं लगा। किताबी उर्दू बोल रहा था।

''हां, क्यों नहीं तुम्हारा ही घर है।''

मां ने सोचा होगा, आव–भगत करेंगे तो हमें बख्श देंगें। ''तब तक हाथ सेंक लो।'' मां ने दहकती कांगड़ी थमाई और चौके का रूख किया।

वक्त जैसे ठहर गया। हवा में ऑक्सीजन की इतनी कमी कि माँ–पापा और विनी एक–एक सांस के लिए हांफने लगे। तभी दाढ़ी वाले ने धमाका सा कर दिया।''सुनो, अपनी इस लड़की को पानी देकर भेज दो। हमें रात को प्यास लगती है,''। दाढ़ी वाला साथियों की ओर देखकर भद्दे ढंग से मुस्करा दिया।

मां –पापा पानी का जग–गिलास लिए कमरे की चौखट पर खड़े हो गये तो दाढ़ी वाले का माथा सिकुड़ गया।''सिर पर कफन बांध कर निकले हैं हम? एक खून की सज़ा फांसी तो दस खून की सज़ा भी वही

फांसी। समझे ना? ज़्यादा चालाकी करोगे तो जान से हाथ धो बैठोगे''।

उसका हाथ पिस्टल पर चला गया, विनी की टांगे थरथराने लगी। लपककर खिड़की की चिटकनी खोल दी और कूद गई। बाहर सन्नाटा सांस रोके बैठा था। दूर तक कोई आदमजाद नहीं। पस्त खिड़की से कूदने पर भी उसकी टांगों में चोट लगी। घुटनों पर हाथ दिए वह उठकर भागने वाली ही थी कि दाढ़ी वाले ने फुर्ती से झपटकर बांह पकड़ ली और बेदर्दी से अन्दर खींच लिया।

''वाह छोकरी? अपने प्यारे अब्बा अम्मी की लाशें देखना चाहती है?''

कमरे की ओर घसीटते उसने विनी की ढकी–पुंदी देह उघाड़नी शुरू कर दी।

''प्लीज ऐसा मत करो। नहीं.......... नहीं..........''

विनी ने हाथ पैर मारे। दांतों–लातो से अपना बचाव करने की कोशिश की। रोते–गिड़गिडाते श्रीकृष्ण को याद किया। पर श्रीकृष्ण ने चीर नहीं बढाए। मा–पापा बन्द कमरे मे बेटी की दबी–घुटी चीखें सुनते रहे और ईश्वर से सहायता मांगते रहे। लेकिन ईश्वर कर्फ्यू की रात में कैसे आ पाता?

विनी को मरना था, मर गई। एक देह बच गई, तुड़ी–मुड़ी टुकड़ा हुई देह। जिसे लार टपकाती नज़रों से देखते कंजी आंखों वाले युवक ने माँ से कहा, ''तुम्हारी लड़की हमारे सरदार को भा गई, खुशकिस्मत हो। यों अब यह तुम्हारी बिरादरीमें किसी काम की नही रही। नापाक हो गई।''

उस वक्त पापा के हाथ बंधे थे। माँ के मुंह में कपड़ा ठुंसा हुआ था। कमरे के बीचोबीच चित पड़ी माँ मरी हुई लग रही थी। यों हाथ खुले भी होते, तो भी उसका क्या होना था?

वे लोग विनी को भी अपने साथ ले गये। जहां–जहां गए, मुंह आंख पर पट्टी बांधनी नही भूले। वह चलती रही उनके साथ–साथ। एक जगह से दूसरी, दूसरी से तीसरी, कभी, कभी गाय बाड़े में, कभी भूसा कोठरी में, कभी धुर जंगल की खोहों–खन्दकों में। उनके पिस्टल बारूद, ए.के. सैतालिस, कलिशनिकोव आदि ज़रूरी नगों के साथ एक और ज़रूरी नग..... विनी।

साल भर वह कड़े पहरे में रही। एक रात वे देर तक डेरे पर नहीं लौटे। अच्छा मौका था भाग निकलने का। लेकिन भागना आसान नहीं था। विनी को मरने की इजाजत नहीं थी। भागते की गलती को उन्होंने माफ नहीं किया। तीन जने चले जाते तो चौथा उसकी चौकीदारी पर तैनात रहता।

''तुम भी जाओ, मैं कहीं नहीं जाऊंगी। वे लोग ज़रूरी काम कर रहे हैं'', विनी उसे टरकाने की कोशिश करती, पर वे लोग खूंखार दरिन्दे भले हों, बेवकूफ नहीं थे।

उनकी नोच–खसोट से विनी की आत्मा ज़ख्मी हो गई थी। ''अपने माल की हिफाजत भी तो ज़रूरी काम है'' वे हंसते तो उनके काले मसूढ़ों में फंसे खून सने कच्चे गोश्त के रेशे नमूदार हो जाते। विनी अपने भीतर घुस जाती। इन दागदार मसूढ़ों में चाकू घोंप दे तो क्या हँस पायेंगे ये कच्चे गोश्त के आहारी?

पहले विनी को उबकाई आती थी। उसने उनके कपडों पर उल्टी करने के अपराध में लात घूंसे भी खाए थे। लेकिन अब आदत हो गई है।

हर रात तारे मेखें बनकर आसमान में ठुक जाते। विनी के भीतर कोई हिंसजीव जबड़े कसता रहता। काश! वह यह मेखें उनकी आंखों में ठोंक पाती।

रात भर वह तरकीबें सोचती रहती। सुबह उनके खाना बनाने में लग जाती। देर होने पर वे बौखला जाते थे।

इस बीच वह एक बच्ची की मां बन गई। उस रात गौशाला में पुआल के ढेर पर छटपटाते उसने ईश्वर को जी भर कर कोसा। लिजलिजे होठ वाला गांव से किसी औरत को बच्ची की नाल काटने के लिए पकड लाया था, औरत सहमी हुई थी। उसने रक्त सने पुआल के ढेर पर पानी भर मटका औंधा कर जगह साफ कर दी तो ख़ून का नाला गौशाला के बीच बह निकला। उस वक्त जन्म और मृत्यु की मिली–जुली गंध सुंघते लड़की को लगा कि वह रक्त नदी में बह रही है।

गांव से लाई औरत ने चिथड़े से विनी को पोंछ–पोंछ कर सूखे पुआल पर लिटा दिया। उस वक्त उसके हाथों के साथ उसके होंठ भी कांप रहे थे।

वे लोग बच्ची से मुक्त होना चाहते थे। उन्होंने बच्ची औरत को थमाकर कुछ आदेश–निर्देश भी दिए। लेकिन औरत जाते–जाते लौट आई और उन लोगों के मुड़ते ही बच्ची को कपड़े में लपेटकर माँ की बगल में लिटा दिया। लड़की की छातियां अपने अधमैले दुपट्टे से पोंछ उसने बच्ची के होंठ छुआ दिए। लेकिन बच्ची और माँ दोनों को तमाम तमाशे से तटस्थ देख औरत ने गरम उसांस भरी, "हाय बदबख्त, खोदाय मोक लाविनय।"(हाय बदकिस्मत, ईश्वर तुझे मुक्ति दे।)

उसके आखिरी शब्द विनी भूल नहीं पाती। वह दुआ थी या बद्दुआ? बदबख्त विनी थी या निष्पाप बच्ची जिसकी मौत की कामना उन लोगों के साथ औरत ने भी की थी?

विनी ने उस वक्त होश में आते ही चाहा था कि इस नन्हीं मांसपिंड की गर्दन पर दबाव डाल अपनी टूटी देह आत्मा का बदला ले। पर इस

बेहद आसान काम के लिए उसके हाथ नहीं उठे। उसके भीतर बैठा हिंस्र जीव इतनी आसानी से तृप्त नहीं हो सकता था बल्कि उसकी हर हरकत से तो उन शैतानों को ही मुक्ति मिलनी थी।

दूसरे दिन जब बच्ची की नाभि में पीप पड़ गई और वह जोर–जोर से चीखने लगी तो उन्होंने अपने बचाव के लिए उसे खत्म करना निहायत ज़रूरी समझा। विनी के भीतर अचानक अन्धड़–सा उठा। विचित्र सा अन्धड़।उसने उनके पैर पकड़ लिए। ''मैं इसका मुंह बंध कर दूंगी। यह नहीं रोएगी। देखो, इस बेचारी को कितनी तकलीफ हो रही है। रहम करो इस पर............''

वे लोग विनी को आश्चर्य से देखते रहे। शायद तरस भी खा गए या सोचा होगा कि इस पिद्दी सी जान का टेंटुआ दबाकर कभी भी चुप कराया जा सकता है। फिलहाल उन्होंने बच्ची का मुंह विनी की पुरानी चुन्नी से बन्द कर दिया और बच्ची को लगभग उछालकर विनी की गोद में डाल दिया, ''तुम तो क्या बांधोगी इसका मुंह। तुझे तो इस प्रकार का इल्लत से 'अमार' हो गया है।

वे बार–बार बच्ची की आवाज से गुस्साते। हर बार कपड़े का पट्टा कसकर उसके मुंह पर बांधा जाता। उनके आंख ओर होते ही विनी बच्ची का मुंह खोल देती और उसे फिरन के अन्दर दिपा लेती। बच्ची के दूधिया चेहरे पर कपड़े के अक्स खुद गए थे। कपड़ा खुलने पर भी वह दूध पीने के लिए होठ नहीं हिला पाती थी। विनी आंच पर कपड़ा गरम करके उसके मुंह और पेट पर टकोरे देती। माँ के बताए घरेलु नुस्खे बच्ची पर आजमाती। बच्ची उसके कुच्छड़ में सिकुडकर चिपक जाती। उसकी दो हाथ की हड्डियल देह अक्सर घुटी–घुटी सिसकियों से सिहरा करती। विनी का बेहिस्स होता मन ऐसे में गर्म मोम की तरह टपकने लगता। अपनी देह की छीछालेदर की गवाह इस निष्कलुष जीव में उसका

अपना ही अंश, अपने से बाहर आकर उसका हमराज़ बन गया था। इसे वह हर हाल में सुरक्षित रखना चाहती थी।

सड़क से कोई ट्रक गुज़रा है। घरघराती आवाज के साथ ट्रक की हेडलाइट्स अंधेरे को चीरकर खण्डहरों के बीच आगे बढ़ गई है। सेना की गश्त होगी। विनी खण्डहरों के बीच उकडूं बैठ दूबक गई। भीतर बैठे डर से वह अभी भी मुक्त नहीं हो पाई है। सेना तो रक्षक है पर अकेली औरत को देखकर रक्षक का मन न डोल जाए इसकी गारण्टी तो इतिहास पुराण भी नहीं देते। फिर रात के अमेद्य अन्धेरे में पसरे सुनसान के बीच खण्डहरों में प्रेतनी–सी घूमती शक के दायरों में आएगी ही आएगी।

यों वह अब अच्छी लड़की कहां रह गई? उसकी राह में पलक पांवडे बिछाने वाले लोग अतीत हो गए। मा–पापा बचे भी होंगे तो क्या बांहें खोल कर उसे अंकोर लेंगे?

उसे आतंकवादियों के बीच रही उस लड़की की याद आई जो उनकी चंगुल पार करती आयी थी। शरणार्थी समाज ने उसे अपने शिविर में गज भर जगह भी न दी। सचमुच विपत्ति व्यक्ति को ही नहीं तोड़ती, उसके विवेक को भी ध्वस्त कर देती है। विनी के भीतर गुस्सा धधक उठा। वह आभिजात्य ब्राह्मणों के घर क्यों जन्मी? अपनी जाति का नाश करने वाले देवस्वामियों की पवित्रता पर उसका रोने का मन हुआ। लेकिन उसकी आंखों की नमी बहकर निःशेष हो चुकी थी। अब उसमें शुष्क जलन हो रही थी। साल भर दरिन्दों के साथ रहकर उसने अपने सीने में एक हिंस जीव पाल रखा था, जो सांप–बिच्छुओं से अंटे खण्डहरों के बीच भी उसे जीने के लिए उकसा रहा था।

उसने एक हिंस जीव से दोस्ती कर ली। क्योंकि उसके साथ माया, मोह, ममता, प्यार–व्यार की कोई बन्दिशों या तबालतें नहीं थीं...... वह एक अग्निपिंड था जिसने विनी को ग्लेशियर होने से बचा लिया था।

वह न होता तो इतनी आसानी से विनी कब्र से बाहर आ पाती?

विनी पूरी तन्मयता से उन लोगों की सेवा में खड़ी रहती। वे बर्फबारी में कभी सीमा पार से सामान लाने चले जाते। उनके पैर बर्फीली ठण्ड से सूज जाते। वह चिलमची में नमक डाल कर गरम पानी लाकर उनके पैर सेंकती। एण्काउण्टर में कोई ज़ख्मी हो जाता तो एहतियात से पट्टी बांध देती जैसे जन्म की नर्स हो। वे भी उससे खुश रहने लगे थे।

''तू तो डाक्टर बनना चाहती थी न? लो हमने तुम्हें बिना इम्तहान दिए ही डॉक्टरी का सर्टिफिकेट दे दिया।''

इधर भूसा कोठरी में चूहों ने आतंक मचाना शरू कर दिया था। एक रात लम्बी नाक वाले का अंगुठा काट खाया। गोली दागने में माहिर लम्बी नाक वाले को हाय–हाय करते देख विनी ने बाहर से संजीदा, भीतर से खुश होकर सोचा, इसकी नाक कुत्तर डालते तो अच्छा था।

उस दिन सरदार परेशान था। उसके कुछ यार दूसरे गुट में शामिल हो गये थे। ''कोई ईमान ही न रहा सालों में!'' उसे जबरदस्त गिला था।

विनी माथा दबाती रही। रात भर चूहे सरदार की टांगों पर उछलकूद करते टप्पे खेलते रहे। उसने गुस्से से आकर दो–चार चूहों को गोली से भून दिया और पूंछ से पकडकर बाहर फैंक आया।

विनी को दहशत हुई। ऐसे ही आदमियों के साथ भी करता होगा? उसने चिन्ता से कहा, ''कितनी गोलियां बरबाद करोगे। चूहे मारने की दवा क्यों नहीं लाते? इस पर मोटे होंठ वाले ने उसे खा जाने वाली नजरों से देखा, हमें मारना चाहती है बदजात? चूहों के लिए पिंजरा काफी है। तुम इसकी फिक्र मत करो, अपने काम से काम रखो।''

लेकिन वे जंगली चूहे थे। पिंजरे में रहना उन्हें कबूल नहीं था।''ला दो दवा, मैं आटे की गाली में मिला बिलों के मुंह पर रख दूंगी या 'होगाड़' (सूखी मछली) में लपेट दूंगी। तुम लोग भी चैन से सो पाओगे।''

उस दिन विनी ने सरदार की बड़ी सेवा की। वह शायद उसकी बच्ची का बाप था। या क्या पता वह वाला जो उसके मुंह पर कपड़ा कस देता था।

सरदार प्यार के अतिरेक में मारा गया। टिक ट्वेण्टी या नीला थोथा जैसी कोई जहरीली पुड़िया लाकर उसे थमा दी, ''जरा ख्याल से रखना। बाद में साबुन से हाथ धो लेना। नहीं तो चुहों के साथ हमारी चुहिया भी जन्नत रवाना हो जाएगी।'' सरदार ने प्यार से हिदायत दी।

वे लोग खी–खी कर दाढ़ें दिखाते रहे। विनी ने उनके खून सने जबड़ों को अनदेखा कर दिया।

''कैसे मरूंगी मैं? मुझे तो तुम लोगों की सेवा करनी है।''

''यह हुई न बात। हमारा राज्य बनेगा तो तुझे जरूर मिनिस्टर बना देंगे।'' सरदार ने उसे नई नज़र से देखा। तू पढ़ी–लिखी समझदार लड़की है। विनी उसके विश्वास का पात्र बन गई थी।

रात उसने रोगनजोश पकाया। खूब मसालेदार कोई महक–मुश्क नहीं। उन्होंने दारू की बोतलें गले में उंडेली। छक कर खाया। तारीफें कीं और खाते–खाते ही लम्बे हो गये।

विनी थोडी देर बर्तन समेटती खटर–पटर करती रहीं। रोएं कान बनकर आवाजें टोहते रहे। पुआलों के बिछौनों से पहले गंगुआती आवाज़ें उठीं फिर आक् आक् उल्टियां। विनी ने चार फौलादी जिस्म ऐंठतें देखे। उसके भीतर का हिंस जीव तृप्त हो गया।

बच्ची को गोद में समेट विनी नंगे पैर भूसा कोठरी से बाहर निकल आई। मनवंतरों बाद उसकी कब्र का मुंह खुल गया था। सूने आंगन में पल भर खड़े होकर उसने बौने पहाड़ों को सिर उठाकर देखा और देखी दीए की आखरी लौ, जो भड़ककर थरथराई और गुल हो गई। दूर से ही किसी ने टार्च घुमाया। उन लोगों के लिए कोई सन्देशा था शायद। वे जवाब न पाकर कोठरी की तरफ आ सकते हैं।

विनी बेतहाशा भागने लगी। दुनिया के आखिरी छोर तक। हवाओं को चीरती। धरती रौंदती। ज़ख्मी और लहुलुहान होती। उसका अभियान सफल हो गया था। शिथिल और संतुष्ट वह मार्तण्ड के खण्डहरों में थम गई।

मुर्गे की पहली बांग से ध्वस्त मूर्तियां जाग उठीं। हड़बड़ाकर विनी ने आंखें खोलीं, ''उनका क्या हुआ? ''टार्च वालों ने उनकी कब्रें खोदीं या भूसा–कोठरी में ही अग्निदाह कर दिया? गू गू गू पूर्वी आकाश से उजास फूटा। चिनार के पत्तों बीच छिपी गुगी ने कुहककर उसका ध्यान खींचा। विनी कीचड़ से लथपथ देह लिए उठीं। वर्षा ने जगह–जगह पानी के ताल बना दिए थे। साफ तलैया के पास पहुंच कर उसने बच्ची को चौड़ी चट्टान पर लिटा दिया और पानी में घुसकर देह से मिट्टी उतारने लगी। बच्ची चट्टान का सख्त स्पर्श पाकर पहले कुनमुनाई, बाद में चीख मारकर रोने लगी। विनी को उसके रूदन की आवाज़ अनूठी लगी। जैसे पहली बार सुन रही हो। उसने हथेलियों भर–भर पानी बच्ची पर उछाला और उसकी ऊंची उठती आवाज़ों को खण्डहरों में गूंजते और आसमान को छूते देखती रही। उसके दिल से सारा डर निकल गया।

कल्पवृक्ष की डाली

-संजना कौल

बीती सदी में बनाए गए उन भवनों के बीच में म्यूनिसिपैलिटी की पार्क बनी थी और इस समय उसके जंगले के साथ भूरे रंग का मरियल–सा घोड़ा माथा सटाए ऊंघ रहा था।

मकानों के पिछवाड़े तली–भुनी चटपटी चीजें बेचने वालों की दुकानें थीं और वे अमन–शांति से अपना कारोबार कर रहे थे। ग्राहक से थोड़ा ज्यादा लेकर और उसे थोड़ा कम बेचकर।

किसी को किसी से कोई शिकायत नहीं थी। कभी–कभार के लड़ाई–झगड़ों के बाद ज़िन्दगी अपने ढर्रे पर आ जाती थी।

आधे सोए, आधे जागते लोगों की बस्ती! सरोज ने मन–ही–मन मुस्कुराते हुए इस जगह को एक नाम दे दिया।

जिस तरह यह मुहल्ला गोलाई में पसरा हुआ था, उसी तरह इसकी सबसे लम्बी गली में खड़े सबसे विशाल फाटक के अन्दर गोलाई में एक मकान बना था। फाटक का रूप–रंग और मकान की हालत उनकी उम्र और इतिहास के कई–कई ब्यौरे सुनाते थे। मकान–मालकिन ने दो–दो कमरों और एक–एक रसोई वाले तीन हिस्से किराए पर उठा दिए थे। ऐसे ही एक हिस्से में सरोज और उसके घर के लोग किराए पर रहते थे। मकान मालकिन की मालिकाना ज़्यादतियों को हंस–रोकर पीते थे और यहां से निकल कर अपना एक अच्छा–सा, छोटा–सा घर बनाने के सपने संजोते थे।

और शायद मन–ही–मन इस मुहल्ले और यहां के बाशिन्दों को प्यार भी करते थे।

शहर फैलता जा रहा था। जंगल काटे जा रहे थे। अगराइयां गायब हो रहीं थीं। पथरीले बियाबान साफ़ हो रहे थे। उनमें से नई–नई खूबसूरत बस्तियां सिर उठाने लगी थीं। शहर के आधुनिक हिस्से के उस इन्द्रलोक की तरह जहां सरकारी पैसे पर हाथ साफ़ करने वाले और लोगों के खून को क़तरा–क़तरा चाटने वाले चतुर सुजान अपने बसेरे बना कर रहते थे।

अगर इन बस्तियों के अन्दर तक, इनकी धरती को किसी भू–गर्भशाली की दृष्टि से देख लिया जाता तो यहां स्मृतियां मिल सकती थीं, विस्तृत इतिहास मिल सकता था। शायद वे नदियां मिल सकती थीं, जिनका नाम अब किसी को याद नहीं रहा था।

शहर के मूल निवासियों में से कुछ का कहना था कि वह देश–काल विहीन जातियों की आधी–अधूरी दुनिया है।

सरोज से जब अरूण स्मृतियों की बात करता था तो वह रौब से कहती थी कि कुछ नहीं, उसे केवल अपने बचपन की नदी, याद आती है। और क्या रह गया है। याद करने के लिए? अरूण के चिढ़ाने पर उसकी एक ही बात कि अपनी ज़मीन, अपना शहर जब ज़हरीली हवाओं से भर जाए तो स्मृतियां अपने–आप मर जाती हैं।

उसने परेशान होकर सोचना बन्द कर दिया और सब्जी की टोकरी उठा कर खिड़की के पास मटर छीलने बैठ गई।

बाहर गली में दशहरे के अवसर पर रावण का पुतला जलाने की तैयारियां पूरी हो चुकी थीं।

उसी मकान में सामने वाले दो कमरों में रहने वाली राधिका की बड़ी बेटी प्रियंका कमरे में आकर उसके सिर पर सवार हो गई, "प्लीज, आंटी! चलो ना बाहर! अभी रावण को जलाया जाएगा।"

सरोज ने उस पन्द्रह–सोलह साल की सुन्दर लड़की को देखा। उसके पढ़े–लिखे मां–बाप ने अभी से उसे शिकंजों में कसना शुरू कर दिया था। उसे अकेले छत पर जाने की इज़ाजत नहीं थी, न उसे बार–बार सहेलियों

के घर जाने दिया जाता था। घर में हंगामा होने के डर से वह सरोज को बुलाने आई थी।

वह उठकर उसके साथ बाहर गली में खड़ी हो गई।

लेकिन उनके बाहर निकलते ही फट–फट फटाक के साथ रावण के पुतले से पटाखे फूटने लगे, मास्टर रघुवीर सिंह के मंझले बेटे महेन्द्र ने ज़ोर से 'जय सिरी राम' का नारा लगाया और सरोज प्रियंका को वहीं छोड़कर अन्दर भाग गई।

दरअसल कोई तीज–त्योहार उसे अब अच्छा नहीं लगता था। पिछले तीन–चार साल से वह कहीं घूमने भी नहीं गई थी।

वह कैसी मनहूसियत! घर में कृष्णा भाभी नाराज हो जाती थी।

''जानते हो, कई बार यह सोचकर बहुत अच्छा लगता है कि मैं जब मर जाऊंगी तो कितने लोग रोएंगे। अरूण के प्रोमोशन के बाद, उसके दिल्ली जाने से पहले सरोज ने अपनी उदासी को दूर करने की कोशिश करते हुए कहा था।

''किस सदी में जी रही हो, सरोज? कोई नहीं रोएगा। लोग दो मिन्ट का मौन रखेंगे और उसमें भी बातें करेंगे।''

सरोज चौंक कर उसकी आंखों में झांकने लगी थी। उसे लगा, मज़ाक में ही सही, अरूण ने समय की एक बड़ी सच्चाई के साथ उसका आमना–सामना करवा दिया था। वह बिल्कुल चुप हो गई।

अरूण ने पता नहीं, उसकी चुप्पी से क्या समझ लिया लेकिन कुछ ही देर बाद उसे पास खींचकर उसकी दोनों आँखों को चूम लिया, ''तुम मर गईं तो संगीत मर जाएगा।''

लेकिन सरोज के सामने आने वाला समय मुंह फाड़कर खड़ा हो गया। अरूण के यहां से जाने के बाद?

वह घर लौट गई। रात को उसने सपने में एक बार फिर हवाई जहाज़ को आकाश से नदी में गिरते हुए देखा और पसीने में डूबे जिस्म के साथ बिस्तर में उठ बैठी। कमरे की बत्ती जला कर वह भाई साहब की तस्वीर के सामने बैठी रही। उनकी मृत्यु को तीन साल होने लगे थे।

उसकी और भाई साहब की उम्र में पूरे चौदह साल का अन्तर था। वे कश्मीर के हिन्दू घरानों की उस पीढ़ी के व्यक्ति थे जिन्हें विरासत में फारसी कविता मिली थी। भाई साहब फारसी शायरी के रसिया थे। सरोज ने उनसे कई बार फारसी भाषा में शिव स्तुति सुनी थी जो कहा जाता था कि कश्मीर के किसी पठान सामंत ने लिखी थी।

अपनी गम्भीर, गूंजती हुई आवाज़ में वे कश्मीरी भाषा में यूसूफ–जुलेखा की दास्तान गाते थे। बिना कुछ भी समझे सरोज चुपचाप सुनती रहती थी।

उसे वे ईरानी लड़के याद थे जो वहां की इस्लामी क्रान्ति के बाद भारत में शरण लिए हुए थे। गोरे–चिट्टे, तीखे नाक–नक्श वाले सुन्दर नवयुवक। वह भाई साहब को उनके साथ धाराप्रवाह फ़ारसी में बातें करते हुए सुनती थी और गर्व से भर उठती थी। अपना घर बड़ा अलग–अलग सा लगता था, बड़ा पवित्र जिसे सुरक्षित रख जा सकता था। उनसे बचाकर जो भाषा में धड़कते हुए इन्सानी रिश्तों को भी धर्म और मज़हब की बेड़ियों में जकड़ने की कोशिश करते थे।

अपना घर छोड़कर इस शहर में बस जाने के बाद भाई साहब पिछला सब कुछ भूलने लगे थे या भूलने का बहाना करने लगे थे। किराए के मकान में रहते हुए वे पूरा दिन लेटे रहते थे, बीच–बीच में उठकर कई बार चाय पीते थे और इस या उस बहाने से बीवी से लड़ते रहते थे, उसे तरह–तरह के शाप और गालियां देते थे और सरोज के टोकने या ज़ोर से बोलने पर सिर तक कम्बल ओढ़कर सो जाते थे।

उनके इस तरह सो जाने पर सरोज को हर बार पुरानी बात याद आ जाती थी।

डॉ॰ रशीद क़ादरी उनके गहरे दोस्त थे। अपनी भानजी की शादी के सिलसिले में उन्हें पाकिस्तान जाना पड़ा था। वहां से लौटकर वे मिलने आए और भाई साहब को उनके कॉलेज के ज़माने के दोस्त की तस्वीर दे दी जो उन्होंने लाहौर से बहुत प्यार से उनके लिए भेजी थी। क़ादरी साहब के जाने के बाद भाई साहब ने एक बार उस तस्वीर को देखा, फिर लापरवाही से उसे ठूंसकर भूख न होने का बहाना करके सो गए। कम्बल सिर के ऊपर तक खींच लिया।

सरोज जानती थी कि वे सो नहीं रहे थे।

भूख न होने की कोई वजह नहीं थी क्योंकि वे खाने–पीन के शौकीन थे। रात को वे सब के साथ तरह–तरह की बातें सुनते हुए खाना खाते थे। यहां आने के बाद कुछ भी तो पहले जैसा नहीं रहा। घर, परिवार, दोस्त, रिश्ते–नाते सब कुछ कितना–कितना बदल गया।

भाई साहब को सब की नीयत पर शक होने लगा था। घर–बाहर के सब लोग उन्हें अपने दुश्मन लगने लगे थे। विश्वास था तो एक आदमी पर। अपने हम उम्र चचेरे भाई, कॉलेज के दिनों के लंगोटिया यार, पहली–पहली सिगरेट के साथी और पहले–पहले रोमांस के परामर्श दाता आशुतोष भाई पर।

कई बार वे मिलने आते थे तो सरोज उन्हें पकड़ लेती थीं, ''आशुतोष भाई, कुछ बीते दिनों की बातें सुनाइए। जिन्दगी के तजुर्बे।''

''अपनी जिन्दगी के तजुर्बे तुम्हारे साथ बांट कर मै तुम्हारी हिम्मत नहीं तोड़ना चाहता। कुछ और पूछो।''

और सरोज के जिद करने या अगला सवाल करने से पहले ही वे कश्मीर के इतिहास के क्रान्तिकारी पन्ने खोलने लगते थे। कश्मीर सोशलिस्ट पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी की रॉयवादी शाखा, उसके अध्यक्ष के घर पर वामपंथियों की बैठकें, कॉमरेड नूरमुहम्मद और विभाजन के बाद उनका छिपते–छिपाते पाकिस्तान गमन। कुल मिलाकर पूरे वामपंथी आन्दोलन का बिखराव।

आशुतोष भाई के पास लाहौर के जिन्दादिल, खुशमिज़ाज लोगों की बेशुमार यादें थीं।

''आपको अगर फिर से पाकिस्तान जाने का मौका मिले तो कैसा लगेगा?'' सरोज पूछती थी।

''पता नहीं कैसा लगेगा लेकिन एक बार जाना जरूर चाहूंगा।'' उनका जवाब होता था।

भाई साहब की तरफ देख आशुतोष भाई हंसने लगते थे, ''मैं तो साईंस का स्टूडैंट था। डॉक्टर बनना चाहता था। किताबों और प्रैक्टीकल से फुर्सत कहां मिलती थी? पॉलिटिक्स और लिटरेचर की जितनी समझ आज मेरे पास है, वह इन्हीं की बदौलत है। ये तो मैट्रिक के इम्तिहान से एक दिन पहले हम सबको पकड़ कर कमरे में ले गए और फ़ारसी शायरी सुनाने बैठ गए।'' भाई साहब चुपचाप सुनते रहते थे लेकिन उनकी आँखें उन दिनों की स्मृति से चमकने लगती थीं।

बीमारी भयानक रूप से सामने आ गई। एक रात को भाई साहब अचानक आंगन में गिर पड़े। उनको लकवे को दौरा पड़ गया था। सरोज और कृष्णा भाभी ने राधिका के पति की मदद से अन्दर लाकर उन्हें बिस्तर पर लिटा दिया और रात आखों में काट दी, यह कैसी अग्नि परीक्षा?

सुबह होते ही बिना कुछ ख़ाए–पिए वह आशुतोष भाई को बुलाने गई। इस शहर में उनका बड़ा सहारा था। वे घर पर अपनी अटैची तैयार कर रहे थे। उन्होंने शुरू से आख़िर तक सब कुछ सुन लिया, थोडी देर अटैची पर झुके रहे, फिर धीरे से सिर उठाया, ''उन्हें डाक्टर के पास ले जाओ। थोड़ी देर में मैं भी आ जाता हूँ।''

सरोज़ बिना उनकी तरफ देखे झटके से खड़ी हो गई, ''ठीक है। मैं जाती हूं।''

घर पहुंचकर कृष्णा भाभी को सुब कुछ बता दिया और पागलों की तरह डॉक्टर को ढूंढने निकल पड़ी। बिना यह सोचे कि कोई डॉक्टर घर आने

को तैयार नहीं होगा और भाई साहब बिस्तर पर से उठ नहीं पाएंगे।

शाम को आशुतोष भाई आए, ''डाक्टर से मिले?''

सरोज के दिल में आया, कोई कड़वी–तीखी बात कह दे, लेकिन मुंह से सिर्फ एक झूठ निकला, ''जी नहीं। उसका क्लीनिक बन्द था शायद आज आया नहीं था''।

वे चुप रहे। थोड़ी देर बाद पता चला, वे तीन दिन बाद सीमा के पार जा रहे थे। पत्रकारों, रंगकर्मियों और बुद्धिजीवियों का एक दल उस ओर के लोगों के यह समझाने जा रहा था कि दोनों तरफ की संस्कृति एक है, अतीत की स्मृतियां और इतिहास एक हैं। उसमें आशुतोष भाई का नाम भी था। उनकी वर्षों की साध–पूरी होने वाली थी। वहां उन्हे अपनी सुनहरी स्मृतियों की गलियों में भी विचरने का मौका मिल सकता था।

भाई साहब की मृत्यु की सूचना आशुतोष भाई को फोन पर दी गई। वे पड़ोसी देश से लौट आए थे। वे आकर कमरे के कोने में खड़े हो गए। फिर चौथे दिन आकर सरोज और कृष्णा भाभी हाथ फेरने लगे, ''किसी चीज़ की जरूरत हो मुझ से कहना। जब तक मैं हूँ, के बीच में बैठ मामी से दो एक बातें की और फिर मरोज के सिर पर तुम्हें परेशान होने की ज़रूरत नहीं है।

सरोज ने सिर उठाकर उनकी तरफ देखा। वे रो रहे थे। वह चिढ़ गई। क्या वह अपने से तेरह–चौदह साल बड़े इस आदमी से? कैसे पूछे कि इस रोने–धोने, इस उथली भावुकता का मतलब क्या है जबकि भाई साहब की बीमारी के पांच महीनों में एक बार झांकने भी नहीं आए। बाद में पता चला वे पुराना एकान बेत कर शहर की नई फालोती हैं। में अपनी कोठरी बनवा रहे थे।

आशुतोष भाई रो रहे थे और सरोज को अपना बिखर चुका संयुक्त परिवार याद आ रहा था। वह घर जहां चाचा को चाचा और ताऊ को

ताऊ कहना किसी नैतिक अपराध से कम नहीं माना जाता था।

वे छोटे बाबू और बड़े बाबू ही हो सकते थे। उनकी बेटियां, सरोज की वे बहनें भाई साहब की मृत्यु पर आई थीं। फिर पता नहीं कब उठकर चली गईं।

उसे मन–ही–मन गहरा डर लगने लगा। रिश्तों के इस रेगिस्तान में भटकते–भटकते वह आखिर जाएगी कहां? कैसे जीवित रहेगी? कहीं भाई साहब के रोग ने उसे भी दबोच लिया तो? डॉक्टर कहते थे, उन्हें तनाव और अकेलेपन ने तोड़ दिया। उनसे ज़िन्दा रहने की शक्ति छीन ली।

दो–ढाई साल बाद अरूण वापिस आ गया। इस बार अपने ही एक और शाखा में मैनेजर की पोस्ट पर। ऑफिस में उसे एक आलिशान कमरा मिला हुआ था। पुराने मुहल्ले को छोड़कर वह अच्छे खासे तीन कमरों के कवार्टर में चला गया था।

अरूण पंजाबी था। पंजाबी के छात्र आन्दोलनों में सक्रिय हिस्सेदारी कर चुका था। कई बार वह सरोज के साथ घंटों उन दिनों की बातें करता था और उन दोस्तों को बहुत प्यार से याद करता था। सरोज सुनते–सुनते रोमांचित हो जाती थी और उससे उन दिनों की स्मृतियों पर कुछ लिखने की बात करती थी ताकि वह इतिहास के अंधेरों में न खो जाए। उसके साथ खिलवाड़ न किया जाए। वह हर बार टाल जाता था।

"हटाओ भी। अब बैंक का काम देखूंगा या किताबें लिखूंगा।"

यहां रहते हुए अरूण ने एक बार उससे कहा था, "तुम्हारे कंधें पर सिर टिका कर आंखों को छलकाने का समय बेहद ईमानदार होता है।"

लेकिन अब दिल्ली से लौट कर नया काम संभालने के बाद उसके पास समय की कमी हो गई थी। उस दिन वह उसके ऑफिस में मिलने गई। उसने मुस्करा कर स्वागत किया और अगले ही पल कम्पुयटर में व्यस्त हो गया। सरोज से बैठने को भी नहीं कहा। वह थोड़ी देर खड़ी–खड़ी बातें करती रही। फिर चुपचाप बाहर निकल गई।

कुछ दिन बाद उसने सोचा था, ''वह उसे समझाएगी कि कुछ टूट रहा है उनके बीच में से, यह कहेगी कि वे दोनों अब स्कूटर पर सवार होकर शहर की सड़कों की धूल नहीं फांकते। चाय की दुकानों में घुसकर समोसों का स्वाद लेते हुए घंटों बातें नहीं करते।

लेकिन वह यह शिकायत नहीं कर सकती थी क्योंकि यहां वापिस आने के तुरन्त बाद अरूण ने गाड़ी ले ली थी।

सरोज ने एक बार जाने–पहचाने चाय घर में कॉफ़ी पीने की बात की तो उसने जैसे उकता कर जान छुड़ाते हुए कहा, ''तुम मुझे फोन करना। उसके बाद तय करेंगें कब और कहां मिल सकते हैं।''

अब उनकी बातचीत फोन पर ही होती थी। ऑफिस से या अपने घर लौटते हुए अरूण कभी–कभी मिलने चला आता था। सरोज का घर उसके क्वार्टर को जाती हुई सड़क के एक किनारे सब्जी मंडी के बिल्कुल पास था।

टैलीविजन पर खबरें आ रही थीं। कश्मीर में एक जगह चालीस सिखों को भून डाला गया था। 'जो बोले सो निहाल' के घोष के साथ उनकी सामूहिक चिता को आग लगा दी गई। देखते हुए सरोज चीख कर रो पड़ी बिना यह सोचे कि अरूण आज तीन महीने के बाद मिलने आया था। यह कहते हुए कि उसके पास सिर्फ आधे घंटे का समय है।

वह याद करने लगी। बंटवारा! कबाइली हमला। मुज़फ्फराबाद में सिखों और हिन्दुओं का कत्लेआम। कश्मीर में सिखों की सामूहिक हत्या। उसने देखा नहीं था, घर में भाई साहब और आशुतोष भाई से सुना था। आंखों से बहते आंसुओं को हाथ से पोंछ कर उसने अरूण की तरफ देखा, ''बताओ, राजनीति की खरोचों से भरा अपना लहूलुहान जिस्म लेकर हम क्या करें, कहां जाएं?''

''पहले तुम बताओ, जो ऐसा कर रहे हैं, वहां के मुसलमान पढ़ क्यों नहीं

पाए?'' अरूण ने सवाल दागा।

''जो अनपढ़ रहेगा, उसको हत्या और बलात्कार की छूट दोगे? और यह जो अभी–अभी देख चुके हो, ये भी गांव के सीधे–सादे अनपढ़ किसान थे, अरूण। मैं हाथ जोड़ती हूं, इस तरह सोचना बन्द कर दो। आने वाली पीढ़ियों पर तरस खाओ।'' सरोज ने सचमुच हाथ–जोड़ दिए। उसे छोटी–छोटी तिकोनी दाढ़ियों वाले वे डॉक्टर, बड़े–बड़े सरकारी अफसर और यूनिवर्सिटी में पढ़ने वाले वे लड़के याद आ गए जिनके लाड–दुलार भरे साए में यह सब फलता–फूलता रहा था।

''चलता हूं। ''थोडी देर बाद अरूण उठ खड़ा हुआ। कमरा उन दोनों की चुप्पी से भर गया था।

वह फाटक तक उसे छोडने साथ–साथ गई। वापिस आकर भाभी के साथ रसोई के काम करने लगी। लेकिन भाभी ने हाथ पकड़कर उसे बाहर भेज दिया। वह यही कहती थी कि उसके होते हुए सरोज को घर का काम करने की ज़रूरत नहीं है।

वह पलंग पर खिड़की के पास बैठ गई। भाई साहब की मुस्कुराती हुई तस्वीर उसके सामने वाली दीवार पर लगी हुई थी। उसके घर में कहा जाता था कि पंचतत्त्व में लीन हुए पूर्वज हमारे नहीं रहते। उनकी स्मृतियां हमारे रास्ते को आलोकित करती हैं, घर को प्रकाश से भर देती हैं। सरोज को इस प्रकार की आस्था अच्छी लगती थी।

सैयद शब्बीर अहमद सरोज के ऑफिस में नए–नए नियुक्त होकर आए थे। खूब बातें करते थे और अंग्रेजी अखबारों में छोटे–छोटे लेख लिखते थे। सिगरेट बहुत पीते थे और सरोज के सामने पड़ते ही लिहाज के मारे झट से बुझा देते थे। उम्र में बड़ी होने के कारण सरोज को दीदी कहते थे। वह छेड़ती थी, ''यह डोगरों का देश है शब्बीर। तुम यहां कहां से आ गए? जाओ अपने देश। उस पार।''

''क्या कहती हैं आप, सरोज दीदी। मेरी मां यही की, मेरा पूरा खानदान यहां का, मैं खुद यहां का डोगरा। वहां जाकर मै क्या करूंगा।'' वे हंस पड़ते थे।

उस बार ऑफिस में एक अफसर के विदाई के समारोह के बाद वे चुपके से सरोज के पास आ गए। ''चलेंगी बार्डर देखने? ऐसा मौका नहीं मिलेगा।'' उन्होंने अपने बड़े भाई से बात की हुई थी जो इसी शहर में कोई सरकारी अफसर थे।

वे गाड़ी में बैठ गए। शब्बीर के बड़े भाई खिड़की से उस लकीर की तरफ इशारा करके समझाते जा रहे जहां से उस पार का देश शुरू होता था। सरोज यों ही सिर हिलाती रही क्योंकि उसकी समझ में यही नहीं आ रहा था कि लकीर शुरू कहां से होती है

सरहद पर पहुंचकर वे सैनिकों के साथ बातें करने लगे।

''वे हमें कहां से देख रहे हैं?'' सरोज ने पूछा।

एक सिपाही ने उस तरफ के एक ऊंचे टॉवर की तरफ इशारा किया।

''आप उन्हें ज़रा पास बुला सकते हैं?''

सिपाही ने मुस्कुरा कर इन्कार में सिर हिला दिया।

''सरोज दीदी, देखिए उस पार वाले इस पेड़ को। इसकी डालियां सरहद को दिखा कर यहां तक फैल आई हैं। मतलब यह कि कुदरत को भी यह बटवारा मंजूर नहीं है।''

सरोज ने देखा, शब्बीर ठीक कह रहा था। हरे–हरे पत्तों वाली उस पेड़ की डालियों को वह बिना छुए कुछ देर तक देखती रही। फिर एक बार, सिर्फ एक बार उसकी एक डाली के पत्तों पर बहुत प्यार से हाथ फेरा जैसे घर के किसी बड़े बुजुर्ग की तस्वीर पर से धूल पोंछ रही हो। शब्बीर उसके पास ही खड़ा था। सरोज ने उसकी तरफ देखा, ''तुमने कल्पवृक्ष का नाम सुना है।''

''जी, मैं समझा नहीं?''

''कहते हैं, जो कल्पवृक्ष के नीचे खड़ा होता है, वह चिन्तामुक्त हो जाता है उसकी सारी मनोकामनाएं पूरी हो जाती हैं।''

शब्बीर सब कुछ समझ रहा था, ''आइए वापिस चलते हैं?'' उसने गाड़ी की तरफ इशारा किया।

सिपाहियों से विदा लेकर वे गाड़ी में बैठ गए।

लौटते हुए सरोज ने गाड़ी की खिड़की से उस हरियाले विस्तार को दो देशों में काटती हुई लकीर को एक बार फिर से देख लेने की कोशिश की, लेकिन शाम के झुटपुट में वह कहीं नज़र नहीं आई।

गाड़ी में बैठे शब्बीर और उसके साथी जोर–जोर से बातें करते रहे और वह खेतों में झूमती हुई गेहूं की बालियों को देखती रही।

घर वापसी

-महाराजकृष्ण संतोषी

एक समय की बात नहीं है। थोडे दिनों पहले की बात है। चुनाव के संबंध में कश्मीर जाने वाले कर्मचारियों की सूची में मेरा भी नाम था। जब मुझे इस बात का पता चला तो मेरा चेहरा ज़र्द पड़ गया। इस समय कश्मीर जाने का अर्थ था, मृत्यु से सीधा साक्षात्कार। मन में भय तथा तरह–तरह की आशंकाएं उठने लगीं। शरीर में दौड़ता हुआ लहू जैसे जम गया। पलभर अपनी पत्नी और बच्चों पर दया आने लगी। आंखों में अपनी विधवा पत्नी और अनाथ बच्चों की शक्लें तैरने लगीं। मेरी दशा का ठीक अनुमान लगाते हुए निकट बैठे साथियों ने विनोदपूर्ण चुटकियां लीं।

'तुम्हें तो खुश हो जाना चाहिए कि अपने वतन जा रहे हो' कुलदीप ने कहा।

'वहां बर्फ होगी और आखों को ठंडक देने वाली हरियाली होगी। पहचुंते ही अपनी त्वचा को ठंडा करना' "विजय कह गया।

'चिनार' के साये में बैठकर खूब कविताएं लिखना, कविराज।" चूनी लाल के स्वर में व्यंग्य था। दरअसल वह मेरे साहित्यिक व्यक्तित्व से काफी चिढ़ता था। हमेशा मजाक में ही चोट कर जाता। वह अक्सर कहता लेखक बदमाश होते हैं। उन्हें घर नहीं बुलाना चाहिए। सच यह था कि मैं आज तक उसके घर नहीं गया था। हमेशा उसके घर जाने का मौका चूकता रहा। एक बार उसने मुझसे शिकायत भी की कि मैं जानबूझ कर उसके घर नहीं आता। तब मैंने मजाक में कहा था, 'तुम शादी कर लो मैं जरूर तुम्हारे घर आऊंगा। सैक्शन में सब हंस पड़े थे। चूनीलाल अभी कुंवारा था। उम्र पेंतीस से ऊपर। सर आधा गंजा था और चेहरा गोल। रंग जैसे कोयले पर बिखरा दूध। विवाह करने की इच्छा अभी मरी नहीं थी।

चुनाव के सिलसिले में कश्मीर जाने के तनाव को लेकर आज मैं जल्दी

दफ्तर से घर पहुंचा। मेरे फीके चेहरे को देखकर पत्नी चिंतित हुई तथा बच्चे उदास। चाय का कप थमाते हुए पत्नी ने पूछ लिया–

'क्या बात है?'मैं चुप रहा। चाय की अरूचिपूर्ण चुस्कियां लेते हुए मेरे भीतर से एक दीर्घ निश्वास निकला।

'तुम्हें मेरी कसम! क्या बात है?'

'मुझे चुनाव के सिलसिले में कश्मीर जाना है।' वह यह सुनकर हंसी। बच्चों की उदासी उड़ गई। मुझे गुस्सा आया, कहा–

'मैं तनाव से मरा जा रहा हूँ और तुम सब हंस रहे हो पत्नी संभल गई और बच्चे गंभीर।

'क्या अकेले तुम ही जा रहे हो या दफ्तर से कोई और भी?' पत्नी ने पूछा।

'नहीं दफ्तर से कुछ और लोग भी जा रहे हैं।'

'फिर घबराने की क्या बात है' बड़ा बेटा नीरज बोला। उसके स्वर में बेफिक्रीपन था और मुझे कायर सिद्ध करने की अज्ञात चेष्टा।

मैंने कपड़े बदने और बाहर टहलने के लिए निकला।

मेरे कश्मीर जाने की बात संबंधियों तक फैल गई। वे घर आने लगे। आते ही वे कश्मीर के हालात को लेकर खौफनाक चित्र प्रस्तुत करते और अंत में सहानुभूति प्रकट करते हुए कहते कि कोई चिंता की बात नहीं। ईश्वर पर विश्वास रखो। वैसी भी वहां इतनी फौज है, फिर क्या गम मुझे उनकी ये बातें सुनकर गुस्सा आता लेकिन.......

मेरी अंनथक कोशिशों के बावजूद सूची से मेरा नाम नहीं हटा। अब पलायन का कोई रास्ता नहीं था। २३ मई को चुनाव का पहला दौर हो रहा था। हमें १६ मई को सुबह टूरिस्त सेंटर रिपोर्ट करने की हिदायत के साथ दफ्तर से रिलीव किया गया।

तनाव और ... डर के बीच ही कश्मीर जाने की मेरी तैयारियां शुरू

हुई। इन दिनों मैं बल्गारियां का एतिहासिक उपन्यास विदा वेला की पढ रहा था। सन् 1668 ई. में बल्गारियां में रोदोपा की एलिनदेन्या घाटी में तुर्की मुसलमानों ने धर्म परिवर्तन के नाम पर वहां के लोगों पर जो नरसंहार किया उसे इस उपन्यास में पढ़ते हुए अपने कश्मीर के इतिहास का स्मरण हो आया। चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर में इसी परिवर्तन के नाम पर जो नरसंहार हुआ था वह भी कम हलाने वाला नहीं है। अक्सर मैंने चाहा कि कालखंड पर एतिहासिक उपन्यास लिखूं पर अभी तक इतिहास का अध्ययन ही पूरा नहीं हो रहा था मेरा। मगर मुझे विश्वास है कि एक दिन मैं अपने पूर्वजों का यह ऋण ज़रूर उतार लूंगा। फिलहाल पूरा घर मेरे कश्मीर जाने की तैयार में लग गया। पत्नी ने बड़े संदूक से गर्म कपड़े निकाले। उन्हें धोया और प्रेस किया। साबुन, तौलिया, टुथ–ब्रश यहां तक कि सूई–धागा भी रख लिया।

सूई–धागा किस लिए? 'मैने पूछा।

'तुम्हारे पतलून की सिलाई जल्दी उखड़ आती है' वह बोली। मैं हंसा।

मैंने शेल्फ से इतिहास की कई किताबें एक साथ निकालीं और उनके पृष्ट टटोलने लगा। पिछले सात वर्षों से अपने इतिहास को लेकर कितना अध्ययनशील रहा हूँ मैं। दरअसल मैं अपनी जड़ों की यात्रा में सात वर्षों से अंधेरे में यात्रा कर रहा हूं। कभी–कभी मैं अपने से सवाल भी करता हूं कि कहीं मैं अनावश्यक रूप से इतिहास से बंध तो नहीं गया हूं। अतीत में जो हुआ उसका बदला मैं अपने समकालीनों से कैसे लूं? कमरे में पत्नी आ गई थी। मुझे किताबों से घिरा देख बोली–अब कुछ दिन बंद करो ये किताबें। कश्मीर जाने में सिर्फ एक दिन शेष रह गया है है और अभी पूरी पैकिंग भी नहीं हुई।'

सचमुच एक ही दिन शेष रह गया था। मैंने इतिहास की बिखरी किताबों को समेटा और उन्हें शेल्फ पर रखा। पत्नी को आवाज दी। वह बरामदे पर पड़ोस की किसी स्त्री के साथ बातें करने लगी थी।

क्या है? आते ही उनसे पूछा।

'पैकिंग करते हैं।'

सचमुच उसके लहजे में व्यंग्य था जिसे मैंने जान–बूझकर उपेक्षित किया।

मेरी अनुपस्थिति में मेरी पत्नी ने लगभग मेरी सब ज़रूरत की चीजें एकत्र कर लीं थी। मैं मन ही मन पत्नी की व्यवहार–कुशलता पर रीझ गया।

अटैची चीजों से भर गई थी। मैंने इसमें अपनी दो–एक मनपसंद किताबें रखनी चाहीं पर पत्नी ने विरोध किया।

'किताबें नहीं ले जाना?'

'क्यों, क्यों? मैंने पूछा।

'किताबें पड़ते हुए तुम सब कुछ भूल जाते हो।'

'सब कुछ' मैंने उस के ही शब्दों को दोहाराया

'हां सब कुछ'।

'तुम्हें भी।'

'और क्या! वह मैं ही हूं कि बेशर्म बनकर तुम्हारे और किताबों के बीच आ जाती हूं।' मैं हंसा। उसने मेरी मनपसंद किताबें अलग रखीं और उनकी जगह अटैची में हनुमान चालीसा रखा। यह दूसरी बात है कि मैंने बाद में छिप कर ओशो की एक नई किताब अटैची में रख दी।

मैं सभी निकट संबंधियों से रोते–रोते विदा ले चुका था। पहली बार बड़ों के पांव छुए। क्या पता जिंदा लौटना होगा कि नहीं। उनसे विदा लेकर मेरे भीतर मृत्यु का एहसास तीव्र हो उठा था अपनी मृत्यु की कल्पना में मुझे सामूहिक रूदन सुनाई दे रहा था।

रात सोने से पूर्व मैंने जनेऊ कील पर टांग दिया।

'जनेऊ पहने कश्मीर जाना ठीक नहीं' मैंने उत्तर दिया। उसके मुंह से 'हरि ओम' के साथ एक दीर्घ निश्वास निकला। मैंने पानी पिया और आईना देखा। आईना देखते ही मुझे अपना दादा याद आया। वह कहा करते थे कि रात को आईना नहीं देखना चाहिए। उससे उम्र घट जाती है। तो क्या मेरी भी उम्र घट गई?......... घट गई तो कितनी.... एक मिनट. .... एक घंटा...... एक वर्ष.... या..... अचानक बिजली गुम हो गई और मैंने बच्चों से लेकर पत्नी तक का रास्ता सफलतापूर्वक तय किया। अगली सुबह हमें कश्मीर जाना था।

पूरे सात वर्षों के बाद मैं कश्मीर लौट रहा था। इस तरह कश्मीर जाना पड़ेगा, कभी नहीं सोचा था। जम्मू से ही पूरी सुरक्षा के साथ हमें घाटी में ले जाया जा रहा था। उस घाटी में जहां आज हमारा उजड़ा हुआ घर था। सबके चेहरे पर डर और अविश्वास छाया हुआ था। प्रत्येक तनावग्रस्त था और मील पत्थरों पर घटती संख्या से यह तनाव और भी बढ़ रहा था।

जवाहर टनल पार करते ही जब मैंने घाटी की हवा में पहली लंबी सांस ली तो फेफड़ों में जमा धूप प्रथम संस्पर्श से धुलकर ताजा हो गई। टेढ़े–मेढ़े रास्तों से होकर जब हम घाटी के सौंदर्य से रू–ब–रू हो रहे थे तो यूं लग रहा था जैसे हमारी आत्मा को निहारने के लिए आईना मिल गया हो। ऊंचे–ऊंचे हिम–शिखरों के बीच मुझे दूर अपने गांव की चोटी भी दिखाई दी। दुख भी हुआ कि अपने गांव जा न सकूंगा। हालांकि हम जिस मार्ग से जा रहे थे वहां से हमारा गांव अधिक दूर नहीं था। पता नहीं मन में यह बात कैसे उठी कि यदि कश्मीर में निर्भय रहने के लिए मुसलमान होना ज़रूरी है तो सौदंर्य की खातिर –

मुसलमान बनना भी क्या बुरा है। अभी जब पिछली रात घर में जनेऊ उतार कर उसे कील पर टांगा दिया और मजाक में कह दिया था–

'अब मैं कुछ दिन मुसलमान हो जाता हूं।'

'कुछ दिन ही क्यों हमेशा के लिए क्यों नहीं।'

पत्नी के स्वर में चिढ़ और वितृष्णा दोनों थे।

'फिर तुम्हारा क्या होगा?' मैने मासूमियत से कहा।

'मेरे तो गिरधर गोपाल' यह पत्नी का व्यंग्य था या उसका विनोद मैं समझ न सका। वैसे जब कभी मैं अपने व्यक्तित्व के बारे में विचार करता हूं तो मुझे हमेशा यूं लगता रहा है कि मैं देखने में मुसलमान लगता हूं, व्यवहार से हिंदू तथा विचार से कम्यूनिस्ट। इसलिए जो मुस्लमान मुझे नहीं जानते, उन्हें मैं अच्छा लगता हूं। जो हिंदू मुझे नहीं जानते उन्हें भी मैं अच्छा लगता हूं। कम्यूनिस्ट मुझे जानते हैं पर उन्हें मैं अच्छा नहीं लगता।

अचानक धड़ाम की आवाज हुई। पलभर यूं लगा कि मुजाहिदों ने हमारी बस पर ग्रनेड फेंक दिया हो।पर विस्फोट नहीं टायर के फट जाने की ध्वनि थी यह जिसका एहसास हमें तब हुआ जब हमने एक दूसरे को जिंदा पाया। सारा कारवां रूक गया। सुरक्षा कर्मियों ने अपनी–अपनी पोजिशनें लीं। बसों से कर्मचारी नीचे उतरे। हर कोई वहां की खुली हवा में बीते दिनों का भाईचारा ढूंढ़ने लगा।

'अरे संतोषी। तुम यहां? गांव नहीं चलना है' यह बशीर की आवाज थी।

'गांव! कौन–सा गांव? मैंने पूछा।

'तुम्हारा गांव! हमारा गांव!' उसने चौंकते हुए कहा।

'मेरा गांव तो खो गया है' मेरे स्वर में दर्द था।

'तुम पागल तो नहीं हो। कहीं गांव भी खो जाता है।' उसने आश्चर्य मिश्रित स्वर में पूछा। 'तुम नहीं समझोगे' मैंने निश्वास छोड़ते हुए कहा। फिर चुप हो गया। सामने बशीर बिल्कुल नहीं था। हवा में सिर्फ उसकी अदेह उपस्थिति थी।

बशीर हमारे गांव का ग्वाला कवि था। उसे दुनिया में दो ही चीजें अच्छी लगती थीं – दूध और शायरी। वह दुख के साथ यह कहता था कि आजकल दूध और शायरी में काफी पानी डलता है। हर शनिवार जब मैं

श्रीनगर से गांव लौट आता, वह मेरे आने की राह देख रहा होता। गांव में उसकी छोटी–सी दुकान थी। हर रविवार वह मुझे सप्ताह भर की शायरी सुनाता। रसुल मीर की शायरी का बहुत असर था उस पर। तुम्हारी कोई कोंगमाल तो नहीं है' मैं उसे बारहा कहता। (कोंगमल कश्मीरी शायर रसुलमीर की हिंदू प्रेमिका का नाम था।)

"मैं ग्वाला हूं मुझे सिर्फ राधा की तलाश है" वह कहता। बशीर कृष्ण को अपना नायक मानता था। पूरे सात वर्ष हो गए थे बशीर की शायरी को सुने हुए। पता नहीं उसे कोई राधा मिली थी या नहीं और यह भी नहीं मालूम कि इस बीच उसकी शायरी को क्या हुआ। यह भी तो मुमकिन है कि शायरी तथा दूध दोनों में जहर घुल गया हो।

बसों का कारवां फिर शुरू हुआ। सड़क के दोनों तरफ के पेड़ खड़े थे जो हमें जाते हुए निहार रहे थे और अपनी व्यथा हम पर जैसे फेंक रहे थे। अभी तक एक भी चिनार का पेड़ नजर नहीं आया था। अब के जब एक बूढ़े चिनार को देखा तो अभिवादन में अपने आप हाथ जुड़ गए। मुंह से निकला 'नमस्कार'।'चिनार ने मेरा अभिवादन स्वीकार किया या नहीं मैं नहीं जानता पर मुझे जैसे अपनी गलती का एहसास हुआ। मन ने कहा कि यह चिनार तुम्हारा अभिवादन कैसे स्वीकार कर सकता है, इन्हें नमस्कार सुनने की आदत जो नहीं रही।

हमारी पहली रात एयर–फोर्स के एक हेंगर में व्यतीत हुई। एयर–फोर्स परिसर में सैनिकों की गतिविधियां लगातार हमें यह अहसास दे रही थीं कि हम एक युद्ध में जा रहे हैं। दूसरी रात भी पिछली रात की तरह बीती पर वह हेंगर में नहीं एक सरकारी डिग्री कालेज में हमने बिताई। जब हमें इस डिग्री कालेज में ठहराया गया तो रात काफी बढ़ चली थी। सारा कस्बा सो चुका था। चारों तरफ सन्नाटा था। सिर्फ सुरक्षा गाड़ियों की आवाजाही इस सन्नाटे को कुछ देर के लिए चीर कर रख देती। कुछ कुत्ते भी थे जो यदा कदा अपने भौंकने से अपना होना प्रमाणित कर रहे थे। शायद वे इसलिए भी भौंक रहे थे ताकि हमें जतला सकें कि वे सब कुछ जानते हैं।

विगत दो दोनों से लगातार वर्षा हो रही थी। आज हमें अपने-अपने मतदान केंद्रों पर जाना था। हम जिस कमरे में ठहरे हुए थे, वह एक क्लासरूम था। इस क्लासरूम की सभी खिड़कियों के कांच टूटे हुए थे। सामने सीमेंट का ब्लैकबोर्ड था जिस पर पोंछी गई इबारतों का हल्का-सा आभास अभी भी मौजूद था। दीवारों का रंग पाकिस्तानी झंडे जैसा सब्ज था। इन दीवारों पर कोयले तथा चाक से लिखा जनून था। यह सिर्फ इस कमरे की दीवारों का ही हाल नहीं था बल्कि सारी बिल्डिंग का था। 'जालिमों! जाबिरों! हिंदुस्तानी कुत्तों! जैसी लिखी घोषनाएं हमें बराबर यह एहसास दिला रही थीं कि हम कहां हैं। मेरे एक दोस्त ने तो यह टिप्पणी भी की हम कश्मीर में नहीं चेचेनिया में हैं।

डिग्री कालेज से लगती सड़क के उस पार कुछेक दुकानें थीं जो सुरिक्षाकर्मियों के लिए ही खुली थीं। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सुरक्षा बलों के साथ स्थानीय लोगों के अच्छे संबंध थे। इन दुकानों में एक नानवाई की दुकान भी थी जो दूध--दही बेचने वाले के साथ थी। कश्मीर मे नानवाई की दुकानों पर स्त्रियां बैठा करती हैं जो आमतौर पर बहुत सुंदर होती हैं। हमारे घरों में इन मुसलमान नानवाई की दुकानों से रोटियां लाने की सख्त मनाही थी। मैं बचपन से ही इस विरोधाभास पर अपने बड़ों से बहस किया करता था और हर बार उम्र के लिहाज के सामने दब जाता।

'आखिर मुसलमान नानवाई की रोटी खाने में क्या हर्ज है' मैं कहता।

'इससे हमारा धर्म भ्रष्ट हो जाता है' सामने बैठा कोई बड़ा कहता।

'पर दूध भी तो मुसलमान ही बेचता है' मैं तर्क देता।

'दूध अमृत है। यह कभी झूठा नहीं होता।' मैं और तर्क देता तो पिता जी हुक्के की काठ नली का भय दिखलाते और गुस्से में कहते-

'यह जरूर पढ़-लिखकर कलमा पढ़ेगा।' मां यह सुनकर सहम जाती। वह पिताजी से बहुत डरती थी जो अक्सर ऊंची आवाज में सिर्फ

सबको सुनाने की गर्ज से कहता, 'औरतें पांव की जूती होती हैं' मां हमेशा से ही पिता जी से दबती रही हैं। मेरे पिता अक्सर मनुस्मृति के उदाहरण देते। मैं और मां दोनों अब मनु से भी डरने लगे थे। जब मैं बड़ा हुआ तो पिता जी मेरी कद–काठी देखकर मुझे डांटने–फटकारने का हौंसला खो चुके थे। अब वह मां को भी नहीं डांटते। इस बीच मुझे अपने पिता जी के बारे में कुछ रोचक जानकारी मिल गई थी। अपनी जवानी में वह स्त्रियों के हुस्न का कद्रदान था। इस विषय में उनका दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष था। एक मुसलमान दोस्त से अपने पिता जी के बारे में एक बहुत महत्वपूर्ण जानकारी मिल गई थी जो जानकारी से ज्यादा मेरे लिए डिस्कवरी थी। उन दिनों देश में ताम्बे के सिक्के प्रचलित थे। इन सिक्कों में एक पैसे का छेद वाला सिक्का भी था जिसे कश्मीर में 'डबल पैसा' कहकर पुकारते थे। मेरे पिता इस छेदवाले सिक्के में धागा डालकर उसे अपने गले में लटकाए रखते। उनकी यह सोच थी कि इसे संभोग के समय मुंह में रखने से पौरूष बड़ता हैं पता नहीं वह 'डबल पैसा' पिता जी ने मुझे क्यों नहीं दिया।

वर्षा जारी थी और सर्दी बढ़ गई थी। बिल्डिंग कर्मचारियों से भर गई थी। विभिन्न विभागों से आए कर्मचारी सी.आर.पी. की पहरेदारी और आतिथ्य पर संपूर्णता निर्भर थे। पिछले दो दिनों से हमें जो खाना दिया गया वह निरामिष होने के साथ–साथ निराशाजनक भी था। कईयों के पेट इस सरकारी अन्न से प्रभावित हुए। पड़ती हुई बारिश में पानी से भरी बोतलें ले जाते हुए कर्मचारियों पर सुरक्षाकर्मी खूब हंस रहे थे। हमारे भी एक साथी का बुरा हाल था। उसकी शोचनीय दशा को देखकर मैंने सड़क के पार जाकर उसके लिए दही लाने का फैसला किया।

मैं जब दही लेने दुकान पर गया तो दुकानदार ने मुझे गौर से देखा। वह साठ–पैंसठ साल का स्वस्थ बूढ़ा था। सफेद हाजी कट दाढ़ी और सर पर किसानों की गोल टोपी। इस टोपी से आम कश्मीरी के चरित्र को आंका जाता है। हिंदुस्तानी में बात करने के बावजूद उसने पहचान लिया–नाम से नहीं रंग से।

'तुम कश्मीरी पंडित हो न।' उसने पूछा।

'हां' मुझे लाचार कहना पड़ा।

'कश्मीर में किस जगह रहते थे।'

'इस्लामाबाद में' 'मैंने जान बूझकर अनंतनाग को इस्लामाबाद कहा।

'अब कहां कहते हो।'

'जम्मू'

'टेंट में?'

'नहीं, किराए के मकान में।'

उसने गहरी सांस ली। तुम पंडित कितने बडे–बडे मकान छोड कर भाग गए यहां से। पता नहीं कैसी बौरायी हवा थी उन दिनों। हमारे गांव में दस पंडितों के मकान थे। आठ भाग गए सिर्फ दो रह गए।

'चलो अच्छा किया जम्मू की लू से तो बच गए' मैंने उदासी भरे स्वर में कहा।

'पहले आपके लिए लस्सी बनाऊं' मेरी आखों में स्नेहपूर्वक झांकते हुए पूछा उसने।

'नहीं ठंड है।'

तभी उसकी बीवी समावर में गर्म–गर्म चाय लेकर आई। साथ में कुछ ताजा गर्म लवास भी थे। उसने हाजी साहब के सामने चाय का प्याला रख दिया।

'आप चाय पियेंगे पंडित जू'।

'हां! ..... मेरे मुख से एकदम निकला। हालांकि अपने हां कहने पर मुझे संकोच भी कम नहीं हुआ। उन्होंने मेरे सामने भी चाय का प्याला रख दिया। नमकीन चाय जिसे कश्मीर में शीर चाय के नाम से पुकारा जाता

है, मेरी आत्मा की पुकार है और इस समय उस दुकान पर मेरी आत्मा एक मुसलमान को दुआएं दे रही थी। 'परसाल मैं भी जाड़े में जम्मू आया था।' उसने नए सिरे से बात शुरू की।

'व्यापार के सिलसिले में?' पूछा मैंने।

'नहीं'।

'फिर कैसे?'

'अपने बेटे से मिलने।'

'क्या वह वहां सेक्ट्रेट में है।'

'नहीं सेंट्रल जेल में।'

मेरे पांव से जैसे जमीन खिसक गई। क्या उसका बेटा मुजाहिद था। पर जो भी हो इस समय वह मेरे सामने कश्मीरियत का एक जीवित प्रतीक था।

पोलिंग पार्टियों को मतदान केंद्रों तक पहुंचाने का काम आरंभ हो चुका था। हमारा मतदान केंद्र सिर्फ पांच किलोमीटर दूर था। इसलिए हमें पहुंचाने की प्रशासन को इतनी जल्दी नहीं थी। दूर के पोलिंग बूथों के लिए कर्मचारियों को प्राथमिकता दी गई। सबको बुलैटप्रूफ जैकट दिए गए थे। सिलीपिंग बैग पहले से ही दिए गए थे।

मैंने भी बुलैटप्रूफ जैकट हासिल किया। उसे एकदम पहन भी लिया। यह जैकट वी.आइ.पी. जैकटों से अलग था। इसे पहन कर ऐसा लग रहा था जैसे सीने पर किसी ने भारी बोझ रख दिया हो।

'अब हमारी जान को कोई खतरा नहीं' मेरे एक साथी ने मजाक में कहा। पर जान है कहां—मैंने कहा। आसपास जिसने भी सुना हंस दिया।

मुझे मालूम नहीं था कि मनोहर अपने साथ कैमरा भी लाया है उसने मुझे अलग ले—जाकर कहा।

'मेरे पास कैमरा है। चलो बुलैटप्रूफ जैकट में फोटू खींचे। मैं भीतर ही भीतर हंसा। फोटू खींचकर क्या हम घरवालों में हीरो बनना चाहते हैं। मनोहर इस समय भी पिए हुए था। वह जम्मू से पूरा कोटा अटैची में भर कर लाया था। उसकी अटैची में कपड़े कम और बोतलें ज्यादा थीं। मैंने मजाक में उसे कह दिया। 'तुम्हारी अटैची मोबाइल वाइन शाप लगती है।' सुनकर वह हंसा।

'तुम पियोगे?'

'नहीं।' मैंने कहा।

'हां तुम कैसे पियोगे। कश्मीरी पंडित हो ना। धारा में कूदने का साहस कहां से लाओगे। पड़े रहो किनारे–किनारे।'

यह मनोहर की दारू बोल रही थी। संगत–असंगत एक साथ।

एक बार हिंदी दिवस के अवसर पर मैंने अपने कार्यालय में एक कविता सुनाई थी। उस कविता की कुछ पंक्तियां थीं–

दुख नहीं है कि हम सुखी नहीं हैं

दुख नहीं है कि हम सुखी नहीं होंगे

दुख है कि जीवन भर किनारे किनारे चलते रहे हम....................

तब तो वह इन पंक्तियों को कश्मीरी पंडितों का जीवनदर्शन मान बैठा था। वह जब भी मुझे मिलता, कहता 'कैसे हो किनारे–किनारे और मैं प्रत्योत्तर में केवल हंसता। मेरी हंसी मेरी कायरता की प्रतिध्वनि बनकर कुछ देर माहौल में गूंज उठती।

बारिश फिर होने लगी थी। अब इस कालेज परिसर में थोड़े से कर्मचारी रह गए थे जो सरकारी गाड़ी का इंतजार करने लगे थे। आज के दो दिन बाद चुनाव हो रहा था।

गांव के हाईस्कूल में हमारा मतदान केंद्र था। वहां एक साथ तीन

मतदान केंद्रों की व्यवस्था की गई थी। हमारे पहुंचने से पहले ही दो मतदान पार्टियां वहां पहुंच चुकी थीं। उन्होंने ही बताया कि पिछली रात स्कूल पर फायरिंग हुई। मिलिटेंट ने निकट से सुरक्षाकर्मियों पर गोलियां चलाई। दोनों ओर से काफी समय तक गोलियां चलती रहीं। आखिर जब सुरक्षाकर्मियों ने हवा में सर्चलाइट का गोला फेंका तो वे भाग गए।

पोलिंग स्टेशन पर यह हमारी पहली रात थी। शाम होते ही कमरे में रोशनी नहीं जलनी चाहिए, यह सुरक्षा अधिकारियों का स्पष्ट आदेश था। इसलिए सूर्यास्त से पहले ही खा–पीकर अपने–अपने सिलीपिंग बैगों में घुस गए। मैं अपने साथ ओशो की एक किताब भी लाया था। उसे सरहाने रखकर मैं नींद आने की प्रतीक्षा करने लगा। घर में भी सरहाने के पास डायरी और किताब रखकर सोता हूं मैं। इस बार मैंने चाहा ओशो मेरे सपने में आए और मुझसे बात करे। पर वह मेरे सपने में नहीं आए। पता नहीं अमृता प्रीतम के सपनों में कैसे आता है, क्या मेरी कोई पात्रता नहीं है और मैं कुछ देर अपनी पात्रता के ही बारे में सोचता रहा।

आज चुनाव से पहले की अंतिम रात थी। आज भी मैंने अपने सिरहाने ओशो की किताब रखी और चाहा कि इस बार ओशो नहीं, मेरे सपने में स्वयं बुद्ध आए। मेरे सर पर हाथ रखें और मुझसे पाली में नहीं कश्मीरी में बात करे। मैंने सोचा तब मैं उसे कश्मीरी मिलिटेंटों के पास ले जाऊंगा, जब अंगुलिमाल हिंसा छोड़ सकता है तो वे क्यों नहीं।

मैं कब सोया पता नहीं............

रात एक विचित्र सपना आया। सड़क के किनारे लाश पड़ी थी। मैं जब वहां से गुजरा तो मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि वह लाश बुद्ध की थी। मैं घबरा कर दिशाहीन दौड़ा। कुछ देर बाद मैं फिर लाश के पास आया। लाश को फिर देखा पर यह क्या लाश इस बार बुद्ध की शक्ल में नहीं कृष्ण की शक्ल में दिखाई दी। सपने में ही सोचा, कहीं यह मेरी आंखों का तो दोष नहीं.... लाश के पास ही बांसुरी पड़ी थी जो लहु से भीगी थी। मैं भयभीत होकर फिर दिशाहीन दौड़ा। कुछ देर बाद लौट आया।

इस बार लाश के पास एक बच्चा देखा, जो रो रहा था। मैंने पूछा तुम क्यों रो रहे हो?

'मेरा पिता मर गया' वह बोला।

'कौन था तुम्हारा पिता?'

'बुद्ध....... कृष्ण........, मोहम्मद......., ईसा......'

वह एक साथ बोला और कुछ देर बाद अदृश्य हो गया।

मैं जाग गया था और हड़बड़ी में पास रखे अपने बुलैट प्रूफ जैकट से टकरा गया और मुंह से निकला, 'मां..........। थोड़ा संभलने पर अपनी वास्तविक स्थिति का बोध हुआ। बाहर संतरी पहरा दे रहे थे और कुछ गुनगुना रहे थे ....

कैसा विचित्र सपना था। खुदा की मौत का सपना। मैंने अंधेरे में ही डायरी में नोट किया, पैगंबर! बच्चा! हत्याएं........

आखिर चुनाव का बहुप्रतीक्षित सूर्योदय हुआ। हवा में फड़फड़ाते मतपत्रों की गंध फैलने लगी। लोग एक–साथ, आए। उनके चेहरे पर डर और नाखुशी एक–साथ झलक रही थी। लोग अपनी उंगलियों पर लोकतंत्र का दाग लिए घर लौटने लगे।

मतपेटियां जमा कराने के बाद हम वापस उसी कालेज में लाए गए जहां हम पहले ठहरे थे। हमारे और साथी भी पहुंचने लगे। सबके चेहरे पर जीवित बचने की खुशी थी। रात मधुर गालियों और चुटकलों में बीतने लगीं। कुछ गालियां लोकतंत्र के नाम भी दर्ज हुई। हमारा एक साथी गाली–चुटकला विशेषज्ञ था। आज उसे पूरा अवसर मिल रहा था, हम हंसते रह और उधर पीर–पुरोहितों की फजियत होने लगी।

मुझे रात एक समलैंगिक सपना आया। इससे भी पूर्व कोई ऐसा सपना आया हो याद नहीं। मैंने देखा मैं पठान जैसे दिखते किसी आदमी की गिरफ्त में था और वह मुझसे अप्राकृतिक व्यवहार कर रहा था। मैं खुदा

का वास्ता देकर अपने को उससे छुडाने की कोशिश कर रहा था। पर वह मुझ पर और क्रूर हो उठता। कुछ दूरी पर उसके हमशक्ल बंदूक लिए खड़े थे। चारों तरफ पहाड़ थे। झरनों का शोर था। बादल इस तरह बिखरे थे कि आकाश कहीं—कहीं नीला दिखाई दे रहा था। धीरे—धीरे पहाड़ मेरी आंखों से ओझल हो गए, झरनों का शोर थम गया और आकाश अदृश्य हो गया। सिर्फ कुछ कहकहे तथा अजनबी आवाजें कानों में सुनाई पड़ रहीं थीं।

मैं जब जाग गया तो पसीने—पसीने था। मैंने पानी पीया और अपने निकट सोए सुनील को जगाया। वह हडबड़ी में उठा और पूछा, क्या है।

'मैंने बहुत ही खराब सपना देखा।'

'सुबह सुनाना। अभी सो जाओ........'

पर मेरी आंखों में नींद के नाम पर सपने में अर्जित लज्जा का आभास था।

सुबह जब हम जम्मू के लिए रवाना हुए तो वह पठान जैसे मेरा पीछा कर रहा था। मैं उससे बचने की अदृश कोशिश कर रहा था। सपने में कहीं उसकी यह बात रह रह के याद आ रही थी, 'अगले चुनाव में फिर आना............'

'19 जनवरी 1990'

-अवतार कृष्ण राजदान

हां, यह वही दिन है! वही! 19 जनवरी 1990! इसी दिन एक जबरदस्त हलचल! यही वह दिन है जब घाटी के हिन्दू–मुसलमानों के बीच शक की एक ऊंची दीवार खड़ी हो गयी जिसको अब तक कोई भी राजनेता तहस–नहस करने में सफल नहीं हो पाया है। हां यह वही दिन है! 19 जनवरी 1990! न जाने यही दिन क्यों चुना गया था शक की दीवार खड़ा करने का। यह तो मुझे आज भी पता नहीं चलता। वैसे तो इस दिन सुबह से ही घाटी में बहुसंख्यक लोग आपस में इस तरह कानाफूसियां कर रहे थे कि मानो कोई सुन न पाए। इसके विपरीत अल्पसंख्यकों के मुट्ठी भर लोग घरों में बैठे अन्दर से ही गल रहे थे, बाहर का तनावपूर्ण वातावरण देखकर। किन्तु मैं इस सडरा नहीं। तनाव तो यहां के लोगों का गहना हैं। अफवाहों पर ये हद से ज्यादा विश्वास करते हैं और कुत्ता भी जब सड़क पर मर जाए तो ये हड़ताल करने के लिए दुकानदारों को मजबूर करते हैं। यह तो इनकी नियति है। वस्तुतः इनके पास समय है मगर काम करने को कुछ नहीं है। जब काम नहीं बेकार में अपने–आपको व्यस्त रखना भी एक कला है। अफवाहों पर ये हर से ज्यादा विश्वास करते हैं और कुत्ता भी जब सड़क पर मर जाए तो ये हड़ताल करने के लिए दुकानदारों को मजबूर करते हैं। यह तो इनकी नियति है। वस्तुतः इनके पास समय है मगर काम करने को कुछ नहीं है। जब काम नहीं हैं तो बेकार में अपने–आपको व्यस्त रखना भी एक कला है। उनकी यह कला हैं पंगा करना। मैं तो यही सोच रहा था। कि दिन ढल गया और रात्रि के काले सायों ने सारी घाटी को अपनी लपेट में ले लिया। काल–स्याह अंधेरा हो गया। देखते हो देखते सारे गली–कूचे सुनसान पड़ गए। कुत्तों के भौंकने के सिवाय कुछ सुनायी न देता था। उस सयम

लगता था कि सरकार ने सारी घाटी मे कर्फ्यू लगा दिया है। मगर सरकार है कहां? सरकार के नाम पर तो यहां कुछ नहीं है। रूबया सय्यद के अपहरण – काण्ड के बाद यहां की सरकार तमाशयी के रूप में छिन्न–भिन्न होकर रह गयी है। इस समय तो यहां चुस्त सरकार की जरूरत है जो उन मुट्ठी भर लोगों को दबा सके जो सीमा पार के कुचक्र आदेशों के बहकावे में आए हैं, उन्हीं पर नाचते हैं। उन्हीं को खुलेआम कार्यरूप प्रदान करते हैं। यही सोचते याद आया कि बूढ़ी बीमार मां के लिए दवाई का कोटा खत्म हो गया है। क्या पता कल मिलेगा या नहीं। कल पर कोई भरोसा नहीं। मैं झट दवाई–दुकान की ओर भागा। ज्योंही मैं दुकान के पास पहुंचा, दुकानदार ने दुकान का शटर बन्द किया। बहुत अनुनय–विनय के बाद उसने शटर खोला और कहा – 'कौन है? हांगुल है। क्या चाहिए'।

मुझे गुस्सा आया उसकी इन बातों को सुनकर। यह क्या मुझे 'हांगुल कहा है। हांगुल है इसका बाप। यही हालात सामान्य होते तो मैं इसको यहां से ही घसीटकर वितस्ता में फेंक देता। इस समय मैंने गुस्सा पिया। इसकी ओर नुस्खा बढ़ाया और बदले में उसने मुझे दवाई की टिकियां और पैसे दिए। मैंने दवाई की टिकियां ले लीं और इसी के साथ मेरी नज़र दुकान के अंदर लगी क्लाक पर पड़ी। इसकी सूईयां आधा घण्टा पीछें की ओर चल रहीं थीं। यह देखते ही मैंने उसको झट कहा – "भई, आपकी यह घड़ी गल्त है। यह आधा घण्टा...."

'हां, मुझे पता है' उसने कहा – इसको कहते हैं पाकिस्तान स्टण्डर्ड टाईम।"

मैंने उस की ओर ध्यान से देखा और वहां से खिसक गया। अपने – आपसे सोचने लगा कि बात यहां तक पहुंच गयी। लोग अब पाकिस्तान स्टण्डर्ड टाईम के अनुसार काम करने लगे हैं जबकि यहां पांच लाख हिन्दुस्तानी सेना मौजूद है। आखिर क्या

तुर्रा है? हमें क्यों नहीं पता लगता''।

घर पहुंचने पर दवाई वाले ने मुझे जो पैसे वापस दिए थे, उनको देखकर मुझे कुछ कम आश्चर्य नहीं हुआ। यह सब पाकिस्तानी मुद्रा थी। हां, बात तो यहां तक पहुंच गयी है और हमें खबर तक नहीं। न जाने क्या होने वाला हैं और हम अपने ही हाल पर सांस ले रहे है।

इसी के साथ मैंने टीवी खोला। यहां दिखा रहे थे कि रूस के मुसलमान राज्य कैसे एक के बाद एक इस महाशक्ति से बिछड़ते जा रहें है। रूस का एक बड़ा भाग कटता जा रहा हैं और यह वहीं रूस है जिसने कश्मीर का भारत के साथ विलय का हमेशा से समर्थन किया है। कश्मीर का अब क्या होगा। क्या यह भी भारत से टूटकर रहेगा। मुझे तो लगता नहीं मगर यहां के कुछ लोगों को इस बात पर अडिग विश्वास हो गया है। इनको यह पता नहीं कि यदि कश्मीर भारत से कटकर रहेगा तो रूस की तरह भारत के भी टुकडे–टुकडे हो जायेंगे। क्या भारत की आम जनता ऐसा होने देगी? कदापि नहीं। मैं तो यही सोच रहा था कि बाहर से न जाने यह क्या हो गया। पास वाली मस्जिद के माईक से एक जोरदार आवाज आयी –

'नारा–ए तकबीर अल्लाह हो अकबर'

यह आवाज इतनी गरजी कि इसके साथ कुत्ते भी भौंकने लगे। इसको इसी के साथ दो–तीन बार दोहराया गया। ऐसा लग रहा था कि मस्जिद के अंदर कई आतंकवादी घुसे बैठें हैं जो भय और आतंक का वातवरण उत्पन्न करना चाहते हैं। शायद यहां के अल्पसंख्यकों को धमका रहे हैं। मगर किसलिए? यह तो उस समय मेरी समझ में नहीं आया। इसी के साथ मस्जिद के आस–पास लोगों का तांता बंध गया कट्टरपंथी मुसलमानों का। इनमें से कई अल्पसंख्कों के मकानों में घुस

गए और पड़ितों को घरों से निकलते पर यह कहकर मजबूर किया–

यह जहाद है। इसमें हम सबको शामिल होना है। देखते नहीं कि रूस जैसी महाशक्ति टूट गयी महज़ मुसलमानों के कारण। हिन्दुस्तान की बिसात क्या है? यही समय है जब कश्मीरियों को इससे अलग होना चाहिए। भला क्या समझ रखों हैं हमें इन हिन्दुस्तानी कुत्तों ने? बकरी या गाय।

मैंने चुपके से सब कुछ सुना। इस समय सवाल–जवाब पर उतर आना मुनासिब नहीं था। जान किसी तरह बच जाए, वही काफी था। इतने में अल्पसंख्यों के कई सदस्य अनिच्छा से इनके साथ मिल गए। मिले क्या, इनको अब अपना घर वापस आने की कोई आशा नहीं दिखती थी। इस तरह कुछ ही मिन्टों में मस्टिजद के आस–पास लोग ही लोग जमा हो गए। इतने मे लाऊड स्पीकर से एक बार फिर यह आवाज गरजी–

'नारा– ए तकबीर अल्लाह हो अकबर'

मैंने सुना और अपने –आपसे कहा कि यह कहां की शराफत है। गलेनसी कमिशन जो महाराजा हरि सिंह के राज्यकाल में अंग्रेजों ने बिठाया था, की रिपोट के आधार पर मंदिर, मस्जिद या गरुद्वारों में लाऊडस्पीकर मात्र अज़ान, भजन या पाठ आदि के लिए रखे गए हैं और आज इनका दुरूपयोग लोगों को भड़कानें, बहकाने या भगाने के लिए क्यों किया जा रहा हैं? मैं तो यहीं सोच रहा था कि इतने में मस्जिद के लाऊडस्पीकर में इस आवाज की अनुगूंज हुई –

'ऐ काफिरो, ऐ जाबिरों, वतन हमारा छोड़ दो'

यह सुनते ही मेरे पांव के नीचें से जमीन सरक गयी। अरे, ये क्या बक रह हैं? यह किनको कह रहे हैं? शायद उन्हीं को कह रहे है जो हिन्दूस्तान नवाज़ है। किन्तु सोचने की बात है कि

जाबिर कौन हैं और वतन किनका है? वतन तो हम सबका है और हम सब कश्मीरी है। और सबसे बड़ी बात तो यह कि हम कश्मीरी होने के साथ–साथ हिन्दूस्तानी है। किन्तु सोचने की बात हैं कि यह सब किनको कहा जा रहा है– काफिरों को? आश्चर्य इस बात का हैं कि आज तक यहां के मुसलमान ने कभी हिन्दू को काफिर नहीं कहा है। यह शब्द किससे सीखा है इसने? यह तो उन मुल्लाओं की कारिस्तानी लगती है। जिनको कट्टरपंथ पर विश्वास है। वस्तुतः गत् कई वर्षो से ये मुल्ला यहां विशेषतया उत्तर प्रदेश और बिहार से आकर बस गए हैं। इन्होंने यहा की मुसलमान लड़कियों से शादी की। इनके बाल–बच्चे हुए हैं और अब यहीं के होकर रह गए है। ये तो अपने प्रदेश का नाम तक नहीं लेते। ये तो इस्लाम का प्रचार करते हैं और इसी के साथ यहां के मुसलामानों में हिन्दुओं के प्रति घृणा का विष घोल देते है? मैं तो यही सोच रहा था कि बाहर से तड़–तड़ गोलियों के चलने की आवाज सुनायी दी। इसी के साथ जबरदस्त बम–विस्फोट हुआ। इतने में मस्जिद के लाऊडस्पीकर से एक बार फिर यह आवाज सुनायी दी।

'ऐ काफिरो, ए जाबिरो, वतन हमारा छोड़ दो'–

इस वक्त मैं यह सुनकर घबराया। बूढ़ी बीमार मां बिस्तर से निकल कर कहने लगी– 'अरे क्या करते हो पुत्र! यहां से भागने की तैयारी करो। सुनते नहीं। यह क्या कहते हैं? यह तो यहां से भागने की खुलआम चेतावनी है।

मैंने सुना और कहा कुछ नहीं। अपनी चिन्ता नहीं थी मुझे पड़ोस के त्रिलोकीनाथ की जवान बेटियां की चिंता लग गयी। कहीं उठा न ले कोई इनको बन्दुक के भय से।

मैंने झट त्रिलोकीनाथ को आवाज दी किन्तु वहासं से किसी ने कुछ नहीं कहा। मैं शक में पड़ गया। अंत में स्वयं उस

काल–स्याह रात्रि में पास वाली छोटी सी गली को पार कर उसके घर गया। दरवाजे पर दस्तक दी किन्तु खोला किसी ने नहीं। मैंने एक बार फिर दरवाजे पर दस्तक दी और कहा कि मैं हूं, कोई गैर नहीं है तो त्रिलोकी नाथ ने स्वंय दरवाजा खोला। ज्योंही मैं मकान के सहन में आया तो मुझे आश्चर्य हुआ। त्रिलोकीनाथ सपरिवार सहन में बैठा था। ठिठुरती सर्दी से उसके हाथ–पांव जकड़ गए थे। वह तो सिर्फ सुबह आने के इन्तिजार में था ताकि वह अपनी जवान बेटियां के साथ यहां से खिसक जाए मैंने त्रिलोकीनाथ से पूछा– 'आप कहां जा रहे हैं''?

'बनिहाल के पार किसी भी जगह – उसका उत्तर।

''बस, इस तरह?'' – मैंने पूछा।

'हां, मैं हूँ ना हांगुल मेरी जान को खतरा हैं... बात को काटकर उसने एक लम्बी आह भरी।।

''हांगुल? मैं समझा नहीं'' – मैंने कहा।

''हां जिस पंडित को इन्हें कत्ल करना होना है, उसको ये हांगुल कहते हैं। पता है हांगुल क्यों कहते हैं? – उसने कहा।

''नहीं, मेरी समझ में कुछ नहीं आता''। – मैंने कहा।

''जिस तरह हिरणों की प्रजाति में हांगुल सिर्फ कश्मीर में मिलता है उसी तरह ब्राह्मणों में एक विशेष ब्राह्मण – जाति पंडितों के रूप में कश्मीर में मिलती है। हांगुल का इन्होंने सफाया किया है, अब पंडितों की बारी है। इनको या तो मारना है या तितर –बिरत करना हैं– त्रिलोकीनाथ ने सविस्तार कहा।

मैंने सुना और दवा बेचने वाले की शक्ल–व–सूरत आंखों के समाने आयी। उसने भी मुझे कल हांगुल कहा। मुझे मारने के इरादे तो नहीं हैं उसके।

इतने में मस्जिद के लाऊडस्पीकर में एक जोरदार आवाज की गरज हुई। किन्तु अब की बार इसमें बहुत बड़ा परिवर्तन था–

"हमें चाहिए पाकिस्तान

पंडितों के बिना, पंडितानियों के साथ

हमें चाहिए पाकिस्तान"।

"सुना यारा, क्या कहते हैं। पंडितों को खत्म करना है। पंडितानियों को रखैल बनाना है और कश्मीर को पाकिस्तान बनाना है। इस सूरत में हमारी बहू – बेटियों की इज्जतम आबरू सुरक्षित है? इन्होंने अपने मुस्लमान भाई, जो गृह मंत्री के पद पर आसीन है, की बेटी का अपहरण किया तो हमारी बहू–बेटियां किस खेत की मूल हैं। हमें तो यहां से भागना चाहिए, अपनी जान बचाने के लिए नहीं बल्कि अपनी बहू–बेटियों की इज्जत बचाने के लिए। इसलिए मैं यहां खड़ा हूं कि कब सुबह हो जाए और मैं खिसकूं।"

मैंने त्रिलोकी नाथ की बातें ध्यान से सुनीं और वहां से चल दिया। सच कहता है त्रिलोकी। मुझे भी भागने के लिए कुछ न कुछ सोचना चाहिए। मगर करूं क्या, बीमार बूढ़ी मां को कहा ले जाऊं। कबाइली हमले के वक्त वह भागने के लिए तैयार हो गयीं थीं मगर उन दिनों जवान थीं। इस समय इसकी काया जर्जर हो गयी है। बस या टैक्सी में ज्यादा देर तक बैठ नहीं सकती। तिसपर भी मेरी समझ में नहीं आता कि यदि भागूंगा तो कहां? उधमपुर – नहीं, कटरा नहीं, जम्मू – हां यह ठीक जगह है बशर्ते कि जम्मू वाले वहां बसने देंगे। इतने में मस्जिद के लाऊडस्पीकर से एक और रट लगी किन्तु अब की बार इसने चोला बदला–

'कश्मीर में रहना है, निज़ामे –मुस्तफा कहना है" अरे यार,

यह कौन सी तुक है। यह सत्य है कि कई मुस्लिम देश इस समय निजामें मुस्तफा के नाम पर जीवित हैं किन्तु यह एक नारा है। वस्तुतः इसका चलन कहीं नहीं है। फिर भी यहां इसके नाम पर लोगों के साथ जबरदस्ती हो रही है। महिलाओं को जबरदस्ती बुरका पहनाया जा रहा है। जबकि सीमा के उस पार यह पहनावा शनै शनै खत्म होता जा रहा है। शराब की दुकान लूटी गई और शराब के सेवन करने वालों को मारने की धमकी दे दी गयी। यह दूसरी बात है कि लुटेरों ने जो शराब लूटी वह बाद में स्वयं उन्हीं ने पिया और जो शराब पीने वाले है, वह जम्मू आकर खुलेआम शराब पीते हैं। सिनेमा–थियेटरों को बन्द किया गया ताकि कोई फिल्म देख न ले। किन्तु उन लोगों का क्या सोचा है इन्होंने जो टेलिविजन पर विभिन्न चेनलों के माध्यम से दिन–रात फिल्म देखते है और वह भी घर बैठे आराम से । उन लोगों की भी कमी नहीं है तो सिर्फ जम्मू आकर सिनेमा थियेटरों में फिल्म देखते हैं। इसे भी बढ़कर सोचने की बात तो यह है कि जो मुस्लिम देश ' निजामें – मुस्तफा' के नाम पर जीवित हैं, क्या वहां के लोग फिल्म नहीं देखते हैं? क्या वहां सिनेमा हाल मौजूद नहीं है? दुनिया बदल गयी है और हम वहीं लकीर के फकीर है। वस्तुतः हम कश्मीरी हर समय दूसरों के बहकावे में आए हैं और यही कारण है कि हमारा शोषण हो रहा है – मैं तो यही सोच रहा था कि मस्जिद के लाऊडस्पीकर से एक और आवाज आयी किन्तु इस परिवर्तन के साथ–

"आजादी का मतलब क्या? निजामें मुस्तफा!"

मैंने सुना और इस एक वाक्य पर ध्यान देकर सोचने लगा। समझ में कुछ नहीं आ पर रहा हैं कि ये क्या कह रहे है। कभी विद्रोह भड़काना, कभी पाकिस्तान मांगना और कभी आजादी की दुहाई देना – आखिर ये मांगना हैं? इनको क्या चाहिए? धर्म को आजादी से जोड़ना कहां की बुद्धिमत्ता है? आजादी

और वह किस हो? हम कब के आजाद हुए हैं। हम आजाद देश में रह रहे हैं और हमारा भविष्य इसी के साथ सुरक्षित है। इसी बीच सुबह हुई। पक्षियों के मधुर कलरव के साथ ही त्रिलोकी नाथ अपनी जवान बेटियां के साथ मात्र अपनी इज्जत आबरू बचाने के लिए घर से निकले और बस–अड्डे की ओर प्रयाण कर गए। मुझे गुस्सा आया त्रिलोकी पर। कैसा आदमी है यह भी! क्या वह लाऊडस्पकीर की इन आवाजों से इतना डर गया? वैसे तो इसने अच्छा किया। उसका यह कदम सहीं है। इस समय हालात तो हमारे पक्ष में नहीं हैं। सरकार ही नहीं हैं तो हमारी सुरक्षा डांवाडोल होकर रह गयी है। बहुसंख्यकों के एक वर्ग में बंदूक आ गया है और बंदुक चलाने का रिहर्सल हम पर हो रहा है शायद मैं भी बन्दूक का निशाना बन जाऊगा यदि मैं यहां से न खिसकूंगा क्योंकि दवावाले ने मुझे हांगुल कहकर चेतावानी दी है। मगर मैं करूं क्या! बूढ़ी बीमार मां के लिए परेशान हूं। वह तो यहां से भागने के लिए तैयार हो जाए तो सही। नहीं तो उसको किसी दिन बेटे की लाश देखनी पड़ेगी। क्यों न मैं उसी से सलाह–मशवरा कर लूं। उसने जिंदगी के चार दिन देखे हैं। जो वह कहेगी, मुझे मान्य होगा।

दूसरे ही क्षण मैं मां के कमरे में आया। मां सिर नीचे झुकाए अपने–आपसे कह रहीं थीं – बट् कुट बट् मजार, कनिकूट त पत् कशीरि मंज़ काह घर।

आश्चर्य हुआ मुझे यह सुनकर। जो हमें पता नहीं वह इस बुढ़िया को पता है। 'बट्कूट वह गांव है जहां पठानों ने पंडितों को मारकर पीसा है, बट् मजार डल झील के पास कब्रिस्तान है जहां पंडितों को मार कर दफन किया गया है, 'कनिकूट' वह गांव है जहां पंडितों को पत्थर मार–मारकर मारा गया है इसके बाद वह समय भी आ गया जब सारी कश्मीर–घाटी में केवल पंडितों के ग्यारह परिवार बचकर रह गए। मां को यह सब याद

है।

'मां! क्या बड़बड़ा रही हो?'' – मैंने पूछा

'कुछ नहीं पुत्र! सोचती हूं समय हमेशा आगे बढ़ता है किन्तु हमारे लिए यह दुखद घटनाएं लेकर पीछे की ओर मुड़ता है। मगर हमने अपने जान दिए पर, अपनी पुरानी संस्कृति पर आंच नहीं आने दी।'' – उसका उत्तर।

'मां, यहीं से भागना है। बस मैं बैठने की हिम्मत है?'' – मैंने पूछा।

'मुझे पता है कि यहां से भागना है। रही हिम्मत की बात, कबाईली हमले में पैदल भागने पर तैयार हो गयीं थीं, इस समय तो बस में जाना है। मगर हम यहां से अपने साथ क्या लेंगे? उसने पूछा।

'बस कुछ नहीं। अर्श पर थे, अब फर्श पर बैठना है। सब कुछ यहीं छोड़ना है, सिर्फ किसी तरह जान बचानी है।' –मैंने कहा।

'क्या बकते हो। मैं तो गठरी में एक फिरन, लुंगी और दो जोड़े तरंग–कलपोश के जरूर लूंगी। वहां क्या मैला फिरन पहनूंगी?'' उसने कहा।

'ये चीजें लेने की कोई जरूरत नहीं। वहां गर्मी है। आपको मैक्सी या साड़ी पहननी पड़ेगी।' मेरा उत्तर।

''नहीं, मैं ये कपड़े नहीं पहनूंगी। मेरे इन कपडों का मेरी संस्कृति से घनिष्ट संबंध है। भले ही मैं वहां गर्मी के प्रकोप से मर जाऊ मगर मैं यहां का सदियों पुराना पहनावा पहनना नहीं छोड़ंगी – उसके स्पष्ट शब्द।

इतने में बाहर से महिलाओं के रोने तथा सीनाजोरी करने की आवाज सुनाई दी। मैंने खिड़की में से झांककर बाहर की ओर

देखा, काशीनाथ के मकान के सामने 'ऐम्बुलेंस खड़ा था। जब इसका दरवाज़ा खुला तो पहले दो पुलिस वाले निकले, इसके बाद सफ़ेद कवर–चादर में चार आदमी लाश को उठाकर मकान के अंदर ले गए। यह देखते ही मैं झट सड़क पर आया और वहां एक आदमी से पूछा – 'यह कौन मर गया?'

'काशीनाथ का बेटा'– उसका उत्तर

'अरे, इसको मैंने शाम को ही देखा' – मैंने कहा

'ठीक कहते हो। मगर उसपर हांगुल की लेबल लगी थी न, इसलिए मरा।'' – उसके स्पष्ट शब्द।

'हांगुल!' –' मैने आश्चर्यमिश्रित निगाहों से उसकी ओर देखा।

'हां हांगुल!' यह कहते ही वह चला गया।

इतने में मुझे पता नहीं चला कि मैं कब बूढ़ी मां को लेकर बस अड्डे पर पहूंचा वहां मेरी ही तरह कब से लोग जमा हो गए थे।

बाद में पता चला कि मस्जिद के लाऊडस्पीकरों से धमकियों की अनुगूंज सिर्फ मेरे मोहल्ले में ही नहीं हो रही थी बल्कि यह एक ही समय एक – साथ सारी घाटी में हो रहा था।

कुछ वर्ष पहले ईरान में भी इस तरह का प्रयोग हुआ था मगर यहां यह शत–प्रतिशत सफल रहा – अल्पसंख्यकों को भगाने में! हां, यह वही दिन है – 19 जनवरी 1990 ई.।

रिहाई

- अग्निशेखर

आंतकवादी फयाज लोन की रिहाई की खबर से लगभग पूरे गांव में हर्ष की लहर दौड़ गयी । पिछले हफते से जब से रिहाई की घोषणा हुई है, अड़ोस–पड़ोस से लोगबाग, रिश्तेदार फयाज लोन के मां–बाप की बध ाइयां दे रहे हैं । गांव का मुजाहिद चेहरा दमक उठा है ।

गांव में एक मास्टर ताराचन्द को छोड़कर कोई इस आकस्मिक रिहाई की तह में पहुंचने की कोशिश नहीं कर रहा । फयाज लोन सहित आठ खूंखार आतंकवादियों को ईद के मौके पर छोड़कर क्या मुख्यमंत्री ने कोई संकेत दिया है ? सरकार कहीं घुटने तो नहीं टेक रही ? कहीं राज्य सरकार भी अलगाववाद को बढ़ावा तो नहीं दे रही ? शायद घाटी के हालत बदलने वाले हों....... नहीं तो कैसे छोड़ा जाता फयाज लोन !.... सिर पर छह – छह सी.आर.पी. के जवानों और कई निर्दोष कश्मीरी पंडितों का खून है......

फयाज लोन आज शाम तक गांव पहुंचने वाला है । दुनियादारी के तकाजे से मास्टर जी, ताराचन्द को गांव में इसी नाम से जाना जाता है, उसके मां–बाप से अभी मिलकर आया है । गांव के काविल और हुनरमंद अध्यापक होने के साथ–साथ वह गांव के मुसलमानों के लिए ऐसा पंडित भाई है जो औरों की तरह गांव छोड़कर जम्मू नहीं भागा ।

तमाम आग्रहों और उत्तेजनाओं के बावजूद उसने अपने किसी भाई–बहन की न सुनी थी । दोस्तों और हमसायों की बात तो दूर रही । उसकी पत्नी प्रभवती उसे उम्र के उस मोड़ पर गांव में अकेले छोड़कर कैसे जाती । जिस पर उनकी इकलौती बेटी मानसी भी तो अभी अपने गांव में ही थी, जो पड़ोस में था। वास्तव में मास्टर जी की यही एक दुखती रग थी कश्मीर में। मानसी के पति रतनलाल ने भी अपना घर–बार, जमीन–जयदाद, नौकरी छोड़कर गांव से न भागने की जिद्द पकड़ ली थी । हिन्दुओं से खाली हो चुके उस गांव में भी वह मास्टर जी की तरह अकेला घर रह

गया था । मास्टर जी ने उसे दलीलें देकर निकलने के लिए तैयार करना कब का छोड़ दिया था ।

मास्टर जी की आत्मा मानसी के गांव में अटकी देखकर उसके दोनों बेटे अपने बीवी–बच्चों को उठाकर जम्मू भाग गये थे । मास्टर जी के ऊपर फयाज लोन की पार्टी के एरिया कमांडर रशीद डार का वरदहस्त था, यह बात गांव वाले जानते थे। इसीलिए मास्टर जी गांव में बेरोकटोक घूमते गनी दर्जी की दुकान पर बैठे बैठे मजहब से लेकर राजनीति तक की बहसों में हिस्सा लेते रशीद डार कभी–कभार उनके घर आता–जाता । बहुत कम लोग जानते थे कि मास्टर जी मन मारकर उसे दिल्ली के हिन्दी अखबारों में छपी जरुरी खबरों या लेखों का अनुवाद कर देते। रशीद डार उन कागजों को आगे भेजता ।

मास्टर जी के मन में कहीं एक महीन विश्वास भी था अपने पढ़ाये हुए बेशुमार छात्रें पर। यह विश्वास तो यों हर अध्यापक में होता है। लेकिन घर–बार छोड़कर भाग गये पंडितों में हजारों अध्यापक भी तो थे। उनके छात्र रह चुके रतनलाल ने जब मानसी से उन्हें यह कहला भेजा कि वह उनके मामले में दखल न दें तो उनके भीतर किसी पेड़ की टहनी काफ्–से टूटी थी।

"सुना आपने ?"

मास्टर जी संभल गये । सामने प्रभावती हाथ में सब्जी की भरी टोकरी लिये बैठी रही थी ।

'नदी पर तस्कीना बता रही थी, अगले जुम्मा को यहां पाकिस्तान बनेगा।" प्रभावती ने सामने कपड़ा फैलाया, फिर उस पर टोकरी उलट दी। कड़म, बैंगन, टमाटर, मिर्चे फैलकर महक सी उठीं ।

"फयाज लोन के बारे में क्या बोल रही थी ? मास्टर जी ने पूछा ।

" मैंने पूछा नहीं डर से ।" वह हाथ में बैंगन उठाते हुए बोली, "वैसे उसके खून माफ किये होंगे सरकार ने ?"

''इस पर तो शोर उठेगा ।''

''कहां ?''

''जम्मू में........ दिल्ली में तो माइग्रेंट कहेंगे कि ये हत्यारे हैं।'' मास्टर जी ने दांतों तले अपना निचला होंठ दबाया।

प्रभावती को यह बात पची नहीं, ''उनको अपने ही झमेलों से फुर्सत नहीं होगी।'' वह कुछ देर के लिए रूकी, फिर उत्तेजित स्वर में बोल पड़ी ''भागे होते हम भी बाल–बच्चों के साथ।''

''तुम्हारा रतनलाल मानता तब न।'' मास्टर जी ने छूटते ही प्रतिक्रिया दी, ''मानसी को यहां दरिंदों में छोड़कर कैसे भागते?''

प्रभावती के हाथ में बैंगन को चीरता चाकू ढीला पड़ गया। मास्टर जी की बात उसके जिगर को दो फांक कर गयी, ''रतनलाल को पिछले वर्ष भी अकल ठिकाने नहीं आयी।''

मास्टर जी के अन्दर जैसे बिजली कौंध गयी। वह भीतर तक हिल गये। जैसे किसी ने उनके पैरों के नीचे से जमीन खींच ली और वह अन्धेरे खड्ड में गिर रहे हों ....

वह संभल गये थे तीन दिन के त्रासद इन्तजार के बाद। एरिया कमांडर रशीद डार ने उन्हें घर बुलाकर कहा था, ''आपकी बेटी का सुराग मिल गया है। कल सवेरे तक घर चली आयेगी। मुश्किल केस था। हमारी तंजीम के मिलिटेंट नहीं थे।''

गम और खुशी का बांध एक साथ टूट गया था। मास्टर जी बुक्का फाड़कर रो पड़े थे।

''खुदा ताला का शुक्र मानिए मास्टर जी .... हम उन्हें सजा दिये बगैर नहीं रहेंगे........ यह वादा रहा........'' रशीद डार ने समझाया था।

मास्टर जी को याद आया कि कैसे मानसी के अपहरण की खबर पंख लगाकर जम्मू पहुंच गयी थी। घर–घुमनियों ने नून–मिर्च लगाकर उसे

कितना स्वादिष्ट बनाया था....... मानसी किसी मिलिटेंट के साथ स्वयं अपनी मर्जी से फरार हुई है....... वह मुसलमान होकर कहीं कुपवाड़ा में रहती है........... अब वह मिलिटेंटों के लिए भेदिये का काम करने जम्मू आयेगी।

एक दिन प्रभावती के कहने पर मास्टर जी ने रतनलाल को समझाकर मानसी को चन्द दिनों के लिए जम्मू ले जाने का प्रस्ताव रखा। मानसी को लेकर उड़ी तरह–तरह की अफवाहों को झुठलाने का यही कारगर उपाय था।

मास्टर जी के मानस–पटल पर एक और स्मृति अंश कौंध गया। वह गनी दर्जी की दुकान पर बैठे थे कि एक अजनबी दुकान के अन्दर आकर तकिये के साथ सटकर चटाई पर बैठ गया। उसने हुक्के की चिलम भरी और गुड़गुड़ पीने लगा। वह गनी दर्जी का कोई दूर का रिश्तेदार था।

''यह हमारे गांव का अकेला पंडित भाई है।'' गनी दर्जी ने मास्टर जी का परिचय कराते हुए उससे कहा, ''यह हमारी अमानत है।''

अजनबी ने मास्टर जी की तरफ एक मुस्कान भर फैंकी।

''आपके यहां तो अभी काफी पंडित हैं, क्यों?'' गनी दर्जी ने पूछा।

''नहीं गनिया, हमारे यहां कोई पंडित नहीं है।'' अजनबी ने हुक्के की पाइप को मुंह से बाहर निकालकर कहा।

''क्या कहते हो?'' गनी दर्जी ने आश्चर्य प्रकट किया।

''सच बोलूं?'' अजनबी ने दायें बायें देखकर कहा, ''बेअदबी माफ, वे भी कोई पंडित हुए जो यहां रहते हैं। पंडित तो वे निकले जो अपनी बहू–बेटियों को उठाकर जम्मू भाग गये। यहां तो अब हम–आप भी नहीं बच रहें हैं, इनकी तो बात ही नहीं।''

मास्टर जी का मुंह सूखी लौकी के मुंह की तरह खुला रह गया।

अजनबी ने हुक्का फिर गुड़गुड़ाया और चिलम में से चिनगारियों के

साथ एक लपट निकाली। मास्टर जी को लगा ये चिनगारियां उसकी आत्मा में गिर रही हैं और वह तिलमिला रहा है।

''हमारे गांव में एक पंडित घर है'', अजनबी ने मुंह में पाइप रखे हुए ही कहना शुरू किया, 'दो अलग–अलग मिलिटेंट ग्रुपों ने उसे अपने इलाके में होने का दावा किया है। आये दिन रात में कुछ बन्धूकदारी चले आते हैं। पंडित जी को अपने एक मिलिटेंट के साथ मकान की छत पर ड्यूटी देने को भेजकर खाना खाते हैं और मजे भी करते हैं. अनेक मुसलमानों का भी यही हाल है।''

अंधेरा छा गया मास्टर जी की आंखों के आगे। उनकी शून्य–दृष्टि में मानसी और रतनलाल की आकृति बनी, बिगड़ी और विलीन हुई। कहीं उसकी बेटी भी इसी तरह.........

''पंडित जी।''

''अजनबी की आवाज से मास्टर जी चौंक गये।''

''मैं अपनी जवाने बेटी रूखसाना को हिफाज़ती दस्तों और मिलिटेटों से बचाने के लिए जम्मू ले गया था। जानते हो मेरी बेटी मेरे एक पंडित दोस्त के घर में ढाई महीने तक रही।'' उसने हुक्का एक तरफ रखा और उठने की तैयारी करने लगा, ''पंडित जी, फिर मैंने उसके हाथ पीले कर दिये।''

मास्टर जी के मुंह से एक भी शब्द नहीं निकला। उसे लगा जैसे कोई उसे बीच बाजार में नंगा कर गया हो। वह टूटे कदमों से घर लौटकर देर तक चटाई पर औंधा पड़ा रहा।

प्रभावती ने रसोई से बाहर आकर मास्टर जी को सूचना दी कि वह फयाज लोन की मां से मिलकर आयेगी। मास्टर जी के आंखों में मूक स्वीकृति थी। यहां रहना है तो यह सब जरूरी है। मन मारकर ही सही।

प्रभावती आंगन की कच्ची दीवार के उस तरफ राजदानों के अखरोट–वृक्षों के नीचे से होकर कौलों की वीरान पड़ी बगिया की पगडंडी पर चलने

लगी। इस बगिया में सेबों और गिलास के पेड़ों के झुरमुट में अरूणधती का अधजला मकान देखकर प्रभावती को हर बार त्रास होता। उसे याद आता है कि उस रात अरूणधती के पति को कैसे ले गये थे आतंकवादी अखरोट–वृक्षों के नीचे। घर में रोती–बिलखती अरूणधती ने अंधेरे में गोलियां चलने की आवाज़ सुनकर दहाड़ें मारे थे। हठात एक चुप्पी पसर गयी थी। सब कुछ ठहर गया था। कोई बाहर नहीं आया था।

मास्टर जी और उसने भी खिड़की तक खोलने की हिम्मत न जुटायी थी। अरूणधती जमीन पर रेंगते हुए हाथों से अपने पति की लाश टटोलती हुई राजदानों के इन अखरोट–वृक्षों तक पहुंचकर किसी चीज से टकरायी थी। पति के मृत शरीर को उसने देर तक दहाड़े मारकर हिलाया–डुलाया और गोद में उठाया। अन्त में वह घर में बांस की सीढ़ी ले आयी थी।

दहशत से बेखून और अकेली पड़ गयी अरूणधती ने मुश्किल से सीढ़ी पर पति की लाश को रखकर उसे घने अंधेरे में घर तक घसीटा था। दूसरे दिन पुलिस ने उसे ट्रक में बिठाकर लाश के साथ जम्मू रवाना किया था. .... फिर एक दिन यह मकान भी धूं–धूं कर जल उठा था।

फयाज लोन के आंगन तक पहुंचते–पहंचते प्रभावती ने आहत–मन से रास्ते में दर्जनों वीरान और वीरान पड़े पंड़ित मकानों की तरफ़ देखा भी नहीं। फयाज के आंगन में चहल–पहल थी। घास की सातेक चटाइयां, प्राइमरी स्कूल का सरकारी टाट और तीन–चार कुर्सियां बंधनवार...... शादी ब्याह का–सा दृश्य। मकान की तीसरी मंजिल की एक खिड़की से रशीद डार कुछ लड़कों को हिदायतें दे रहा था। मन ही मन कुढ़ी प्रभावती ने सरकार के माथे जूते पड़ने की बद्दुआ दी।

वह सीधे फयाज लोन की मां के पास जाकर उसे बधाइयां दे कर बैठ गयी। उसके चेहरे की झुर्रियों में ममता का भाव देखकर प्रभावती को अपने नाती–पोते याद हो आये। पता नहीं कैसे होंगे कैम्प में! फयाज लोन की मां ने सहज ही प्रभावती से मानसी और उसके पति का हालचाल पूछकर जैसे उसे किसी अन्धे कुएं में धकेल दिया।

वह इस कुंए के तल में कब की मर चुकी है अन्दर से। उसकी लाश सड़ी पड़ी है इस जाल में। गांव वाले निश्शंक होकर पिये जा रहे हैं पानी। शायद आदी हो चुके हैं। अब किसी रोग के फैलने का उन्हें भय नहीं।

प्रभावती कुछ देर अनमनी–सी बैठकर फिर सो आने का बहाना बनाकर चली आयी। मास्टर जी तकिये से पीठ टिकाये से रहे थे। सहसा पटाके छूटने की आवाज से मास्टर जी की नींद टूट गयी। वह हड़बडाकर उठ खड़े हुए जैसे किसी ने उनकी नींद में उतरकर बम धमाके किये हों। खिड़की के बाहर दूर फयाज लोन के घर की तरफ नजरें दौड़ायीं। पटाखे छूटने की फुलझड़ी, उत्साही लड़कों के नारों और एक–दूसरे को खुशामदीद करती आवाजों से उत्सव जैसा माहौल बन रहा था।

''ऐसा लगता है जैसे नदी पर तस्कीना सच ही की रही थी कि अगले जुम्मा को यहां पाक्सितान बनने वाला है।'' रसोई की खिड़की से अन्दर मुड़कर प्रभावती मास्टर जी के सामने खड़ी हो गयी, ''फयाज लोन के आंगन में जो माहौल देखकर आयी हूं, वह देखते ही बनता है।''

मास्टर जी ने सहसा एक जोरदार पटाके की आवाज से घबराकर खिड़की से बाहर थूक फैंकी।

''क्या मुझे भी जाना चाहिए इस समय?'' उसने पत्नी की राय जानना चाही। प्रभावती हामी भरकर रसोई से इलायची और बादाम की एक मोटी–सी पुड़िया बना लायी, ''यह तुम दे देना, लेकिन सबके, सामने हम शीरीं और कच्ची मुंगफली कहां से लाएंगे। वो तो मुसलमान बांटेंगे।''

मास्टर जी उठ खड़े हुए। सिर पर पीला साफा, आंखों पर गोल ऐनक, हाथ में हैंडिल वाली रंगीन छड़ी और दूसरे हाथ में इलायची–बादाम का सगुन...... वह चल पड़े। गोया स्कूल के लिए तैयार हुए हों।

फयाज लोन के आंगन में घुसते ही लोगों ने मास्टर जी को हैरत से देखा। कुछ ने रास्ता दिया। फयान लोन उसे देखते ही उठ खड़ा हुआ। उसे कुर्सी पर बैठ जाने को कहा। इतने में कहीं से आकर रशीद डार ने आंगन में उपस्थित भीड़ को सम्बोधित करना शुरू किया। वह फयाज

अहमद लोन सहित आठ मुजाहिदों की रिहाई को तहरीक की एक बड़ी उपलब्धि मान रहे थे।

तालियों की गड़गड़ाहट के बीच किसी ने पीछे से आकर फयाज लोन के ऊपर शीरीं और मूंगफली से भरी परात उलट दी। एक जाबांज ने उठकर नारे गुंजाये।

मास्टर जी का मन अन्दर से उदास हुआ। उसे ऐसे समय वहां अपनी उपस्थिति बहुत अटपटी लगी। ये नारे उसे तीर की तरह चुभते महसूस हुए। उसे लगा उस मजलिस में एक वही था जो मन से भारतीय था। इसलिए वह अन्दर से तिलमिला रहे थे।

उसने उठकर फयाज लोन के हाथ में इलायची और बादाम की पुड़िया थमायी। उसे खींचकर गले से उठाया। लोगों ने फिर से तालियां बजायीं। मास्टर जी को लगा कि वह पसीने से तर हो गये हैं उनका गला सूख गया है।

''मास्टर जी, फयाज साहब आपका शागिर्द है। इसे कामयाबी की दुआ दीजिए।'' रशीद डार की आवाज से मास्टर जी को जैसे नींद खुल गयी। उसे लगा पाजामे के भीतर उसकी अपनी टांगें नहीं है। उसने छड़ी के हैंडिल को कसकर पकड़ा। गले में आयी थूक से मुंह को गीला किया, ''डार साहब, फयाज अहमद शुरू से बहादुर बच्चा था। मुझे उम्मीद थी एक दिन वह गुल खिलाएगा। मेरी दुआएँ तो आपके साथ है।''

''मैं मास्टर जी का शागिर्द हूँ और इनका एहतिराम करता हूं।'' फयाज लोन ने लोगों से मुखातिब होकर कहा, ''मास्टर जी ने हमारे बीच रहकर उस झूठ को बेबुनियाद साबित किया है जो भगौड़े पंड़ितों ने हिन्दोस्तान जाकर हमारी तहरीक के बारे में फैलाया। कोई भी आकर देख सकता है कि मास्टर ताराचन्द हमारे बीच किस तरह सुख–चैन से रहता है।''

फयाज लोन के मुंह से 'सुखचैन' शब्द मास्टर जी को देर तक 'हांट' करते रहे। खिड़की से राजदानों के अखरोट–वृक्षों के ऊपर उग आये चांद से उन्होंने समय का अनुमान लगाया। कोई डेढ़ बज चुके होंगे। खिड़की

से कमरे में चांदनी के कालीन की कतरन बिछी हुई थी। पूरा गांव सो चुका था। सिर्फ प्रभावती और मास्टर जी जाग रहे थे। उनके भीतर का जल खदबदा गया था।

''बेवकूफों को शर्म नहीं आयी खुद को मास्टर ताराचन्द धर का शागिर्द कहते हुए।'' मास्टर जी के स्वर में तल्खी थी।

''तुम ही तो कहते थे सब मेरे पढ़ाये हुए हैं, इसलिये भी क्यों भागने की सोचें?'' प्रभावती ने प्रत्युत्तर में कहा।

''लेकिन मैंने यह थोड़े ही पढ़ाया है कि हत्याएं करो, बम धमाके करो, पाकिस्तान जाओ, कश्मीरी पंडितों को डरा–धमका कर भगाओ, लड़कियों को उठाकर मुंह काला करो, वगैरह–वगैरह।'' एक ही सांस में कह गया मास्टर जी।

''क्या रशीद डार भी ऐसे ही भाषण देता है जैसे तुम मुझे सुना रहे हो?'' प्रभावती हंस दी।

मास्टर जी चिढ़ गये। उन्होंने चुप्पी साध ली।

''तुमने रशीद डार को भी पढ़ाया है?''

''हां, लेकिन मैंने उसे मिलिटेंटों का एरिया कमांडर नहीं बनाया।'' वह फिर चिढ़ गये।

''रशीद डार भी क्या अगले जुम्मे को पाकिस्तान बनने की बात कर रहा था?'' प्रभावती के प्रश्न के पीछे तस्कीना की बात का प्रभाव था।

''तू पागल हो गयी है?'' मास्टर जी चिढ़कर लगभग चीख पड़े, ''रशीद डार का सर बनेगा यहां पाकिस्तान। क्या घाटी में बन्दूकिए सिरफिरे ही सब कुछ हैं। मेरे सामने रशीद डार का नाम मत लिया करो।''

वह बोलते–बोलते अचानक रूक गये। आंगन में हुई किसी आवाज़ से उनका दिल जोर–जोर से धड़कने लगा। सांस टूटने को हुई। क्या आंगन में कोई टहल रहा है? प्रभावती का मुंह सूख गया। मास्टर जी ने साहस

जुटाकर खिड़की से नीचे आंगन में नज़र दौड़ायी। कोई नहीं था।

''इतनी रात गये कौन होगा। ...... जरूर कोई कुत्ता होगा।'' प्रभावती ने खिड़की से चांद को अखरोट–वृक्षों के बायीं और सरका हुआ देखा।

मास्टर जी ने फिर बातों के टूटे तार को जोड़ने की कोशिश की, ''प्राइमरी स्कूल के अहाते में तुम्हें याद है कैसे फयाज लोन ने घात लगाकर कुएं पर नहा रहे छह सी.आर.पी के जवानों को गोलियों से भून डाला था....... उनमें से एक तो कुएं में ही गिर गया था...... फिर राधेनाथ भट्ट, अशोक कुमार, बिहारी लाल जैसे कितने कश्मीरी पंडितों की हत्या में उसका हाथ बताया जाता है। और यह रशीद डार....... मास्टर जी इसे कामयाबी की दुआ दीजिए। हुँह।''

प्रभावती उसे अवाक् देखती रही, फिर जैसे उसे अनायास ही कुछ याद आया, ''मेरी बेटी को अपनी जान पर खेलकर बेचारा बचा लाया। मेरी सात पीढ़ियों पर उसका एहसान है। मैं तो यही कहूंगी।''

''मैंने तुमसे अभी कहा न, रशीद डार का नाम मेरे सामने मत लो। मेरी रगों में चींटियां दौड़ने लगी है।'' मास्टर जी का चेहरा तमतमाया। उसकी कनपटियां लाल हो गयीं। मानसी का प्रसंग याद आते ही उसे भूकम्प के झटके महसूस हुए। धरती, मकान, राजदानों के अखरोट–वृक्ष सब कुछ हिलता महसूस हुआ।

''जानती हो, तुम्हारी मानसी को पिछले साल किसने अगवा करवाया था? किसके मनहूस साये में वह तीन दिन और तीन रात एक दूरदराज जगह में रही? यही कर्मजला रशीद डार था...... एरिया कमांडर।''

सन्न रह गयी प्रभावती। उसके हाथ की उंगली दांतों तले चली गयी। सर चकराया। ''कया कह रहे हो? तुम्हें किसने बताया?''

''अकरम डार ने। वह उनकी तनजीम छोड़कर दूसरे दल में चला गया है। जानती हो इस अधमोये ने मानसी को धमकी दे रखी है कि जिस दिन वह यह भेद खोलेगी, वह विधवा और अनाथ कर दी जायेगी। और यदि

मानसी ने गांव छोड़कर भागने की भी सोची तो वे जम्मू जाकर भी उन्हें नहीं छोड़ेंगे।'' मास्टर जी कहते--कहते रूक गये।

आंगन में एक बार कोई आवाज़–सी हुई मास्टर जी ने ध्यान से सुना, किसी आदमी की आहट थी।

''ओ ताराचन्द के बच्चे।'' रशीद डार की आवाज थी। दोनों के होश उड़ गये।

''मक्कार! भेदिए! रशीद डार की आवाज़ में तिलमिलाहट थीं। तभी ध ास्नक्–से एक पत्थर खिड़की से अन्दर आकर दीवार से बज गिरा। दोनों बाल–बाल बच गये। मास्टर जी ने प्रभावती का हाथ पकड़कर अपने को कमरे के कोने में छिपा लिया। सीने में हंफनी चल रही थी। प्रभावती छाती पीटने लग गयी।

''सुबह होने दो साले! .... आस्तीन के सांप! ..... देख लूंगा तुम्हें भी और अकरम डार को भी। और तुम्हारी बेटी की जांघें न खोल दूं तो मेरा नाम नहीं..... आता हूं।''

मास्टर जी और प्रभावती आंगन के पार राजदानों के अखरोट–वृक्षों की तरफ जाती रशीद डार की पदचाप को तब तक सुनते रहे तक उनके कानों में सोये हुए गांव की बारूद सी खामोशी नहीं भर गयी।

चांद पेड़ों की फुनगियों के पीछे जैसे कही गिर गया था। दूसरी सुबह नीम अंधेरे में ही मास्टर ताराचन्द धर के दरवाजे पर लटकता हुआ मोटा ताला देखकर सभी हैरान थे.......।

उपन्यास अंश

व्यथ व्यथा

-हरिकृष्ण कौल

अशोक ने किताब बंद की और खिड़की से बाहिर देखने लगा।

बचपन में उसने दादी से सुना था कि कार्तिक की पूर्णिमा चमकती तरल चांदी बरसाकर केसर की क्यारियों को रात भर जगमगाती है। इस जगमगाहट पर केसर की क्यारियों से पहले अपना हक़शफा जताने के लिए दुनिया एक पखवाड़ा पहले ही कार्तिक अमावस्या का घर–घर दीप जलाकर दीवली मनाती है। मगर कश्मीरी भी इतने सीधे नहीं हैं जितने दिखाई देते हैं। दुनिया डाल–डाल तो वे पात–पात। वे रात को सैंकड़ों दीए बहाकर अपनी मां वितस्ता के आंचल को जगमग सजाते हैं।

लेकिन आज न तो कार्तिक की पूनम है और न ही दीवाली की अमावस। भादों की कौन–सी तिथि है, अशोक यह भी नहीं जानता। वितस्ता त्रयोदशी में जाने अभी कितने दिन होंगे। या कौन जाने, वह पीछे छूट गई हो। दादी के समय से भी बहुत पीछे । वह सिर्फ इतना जानता है कि अभी रात है जो काली और डरावनी है। लगभग एक शती पूर्व बने उसके पुश्तैनी मकान के सामने ही वितस्ता नदी, अपने स्थानीय नाम "व्यथ" को चरितार्थ करती हुई, जाने कब से अंधेरी डरावनी रातों में इसी तरह चुप–चाप बहती आ रही है। आज फिर भी दोनों किनारों पर बस्तियां हैं, एक दूसरे से सटे नए पुराने मकानों के गुंजान आबाद मुहल्ले हैं और सबसे बढ़कर बिजली की रोशनी है। अंधेरा आज भी है लेकिन आज से पहले का अंधेरा इससे कई गुना अधिक भयानक रहा होगा। शायद उसी अंधेरे को याद करके नदी की छाती पर उस पार के घरों से पड़ने वाले रोशनियों के झिलमिल प्रतिबिंद इस समय भी थर–थर कांप रहे हैं।

अशोक ने सिर का झंझोड़ा और भटकते मन की लगाम खींच ली। उसके पास मुश्किल से एक डेढ़ महीना है। नवंबर से पहले ही दिल्ली लौटकर उसे एक सेमिनार पेपर और दो टर्म पेपर 'सब्मिट' करने हैं। टर्म

पेपर के लिखने में कोई दिक्कत नहीं थी लेकिन जाने उस पर कौन–सी सनक सवार हो गई थी कि उसने सेमिनार पेपर के लिए खुद ही अजीब–सा टॉपिक चुना था–ए केस एगेंस्ट क्रोनॉलॅजी इन द स्टॅडी ऑफ हिस्टॅरी, जिसे लेकर दुश्मन ही नहीं, दोस्त भी उसकी खूब खिंचाई करेंगे। असल में यह ऊट–पटांग विषय चुनते समय उसके अवचेनत में दबी बचपन की किसी ग्रंथि ने सिर निकाला होगा। स्कूल में उसे तिथियों के सिवा लगभग सब कुछ ठीक–ठाक याद रहता था। किस घटना के पीछे क्या–क्या कारण थे और उसके कौन–से परिणाम निकले? किस शासक ने क्या–क्या किया और क्या–क्या नहीं किया?– अशोक परीक्षा पत्रों में इन प्रश्नों के उत्तर अपनी समझ के अनुसार ठीक ही देता था। लेकिन घटना कब घटी थी या शासक कब पैदा हुआ था, कब सिंहासन पर बैठा था और कब मरा था?– उस विषय में वह अपने पर्चों में चुप ही रहता था। उसकी बुआ दुलारी जिगरी का बेटा और उसका सहपाठी संजय अपने पर्चे में ठीक जवाब देता था या नहीं पर सभी तिथियां सही–सही लिखता और हर परीक्षा में अशोक से ज्यादा नंबर लाता था। शायद पर्चे जांचने वालों के लिए भी तिथि नाम आदि तथ्य ही महत्वपूर्ण थे, वास्तविक घटना और उससे उद्भूत सत्य नहीं। रफीकी साहब जैसे टीचर के लिए भी जो अक्सर कहा करता था कि तारीख अपने को दोहराती है–हिस्टॅरी रिपीट्स इटसेल्फ।

अरे यह क्या वह फिर भटकने लगा। अशोक न सिर को एक बार फिर झंझोडा और फिर से किताब खोलकर पढ़ने लगा। तभी पिछले दो–ढ़ाई महीनों से आंख–मिचौनी खेलने वाले उसके कमरे के बल्ब ने एक बार फिर आंखें मींच ली। अशोक ने खिड़की से बाहर झांका। वितस्ता के आर पार पूरे शहर में अंधेरा छा गया था। वह समझ गया कि मेजर ब्रेक डाउॅन है। उसने किताब बंद की और अपने कमरे से निकलकर पहले तल्ले के बड़े कमरे में आ गया जहां उसका बाप मोहन कृष्ण भान, मां शांता और छोटी बहिन नीरजा बीच में एक बड़ी मोमबत्ती जलाकर आपस में बतिया रहे थे। मोहनकृष्ण पत्नी और पुत्री को कुछ समझा रहा था मगर अशोक को देखते ही वह चुप हो गया। असल में वह उम्र के उस पडाव पर पहुंच

गया था जहां आदमी दूसरों को समझाना अपना फर्ज समझता है। उसकी बातें दूसरों की समझ में आती थीं या नहीं, मगर अशोक की समझ में बिलकुल नहीं आती थी। मोहन कृष्ण यह जानता था और इसलिए वह अशोक के सामने बहुत कम बोलता था।

''पिंकी, जरा जाकर भैया के लिए एक प्याली कहवा बना। दिन–रात किताबों के साथ सिर खपाता रहता है।''

माँ की बात सुनकर नीरजा उठी और किचन में चली गई।

''कहवा गैस पर नहीं, समावार में बनाना इस बार पांच छः महीनों के बाद कश्मीर आया है।'' शांता ने अपनी जगह जगह बैठे–बैठे ही नीरजा को आवाज़ दी।

लेकिन नीरजा किचन मे उलटे पांव वापस आई– ''पापाजी, व्यथ के उस पार फिर लाइट आ गई है। हमारे साथ ही चली गई थी। जाने इस पार अभी भी अंधेरा क्यों है?''

''इस पार भट्टों के मुहल्ले हैं ना। सब को देने के बाद अगर कुछ बिजली बचेगी तो हमें भी देंगे।'' शांता ने बेटी की शंका का समाधान किया।

मोहन कृष्ण पत्नी की बात सुनकर चिढ़–सा गया। ''कौन कहता है कि इस पार भट्टों के मुहल्ले हैं। हो सकता है कि पहले कभी रहे हों। अब तो भट्टों के लगभग दो तिहाई मकान मुसलमानों ने खरीद लिए हैं।''

उसने खिड़की से बाहिर सिर निकाला और उचककर दाएं–बांए दृष्टि डाली। उसे जैसे अपने पक्ष में कोई प्रमाण मिल गया। वह संतुष्ट होकर अपनी जगह बैठ गया और मुस्करा कर पत्नी से बोला– ''इस पार भी दूसरे मुहल्लों में लाइट है। सिर्फ हमारे मुहल्ले में ही अंधेरा है।''

''शायद मुहल्ले के ट्रांसफार्मर में ही कोई खराबी है।'' नीरजा ने अपनी राय प्रकट की। अशोक असली बात जानने के लिए घर से निकल कर बाहर गली में आया।

गली में जितने आदमी जमा थे उन सबकी यही राय थी कि या तो ट्रांसफार्मर में खराबी है नहीं तो नए लाइनमैन महीउद्दीन की कोई शरारत है। सहसा टेरीकॉट का ढ़ीला–ढाला खान सूट पहने लंबे–चौड़े शरीर वाला कादिर कबाड़ी भी अपने घर से निकलकर गली में आया और आते ही वहां जमा लोगों पर बरस पड़ा– "अब्बे ओर जनखे मुहल्ले के (बेगैरतो) आसमान के टिमटिमाते तारों और उस पार के झिलमिलाते लैंपों को हसरत भरी नज़रो से क्या देखते हो? रसूल करीम के वास्ते मेरे साथ चलकर ट्रांसफार्मर के मामे बने बिजली घर के कांरिदों से कहो कि अपने भतीजे के कलपुर्जो को कस दें।"

"चलो। चलो।"

गली में जमा मुहल्ले वाले दल बनाकर ट्रांसफार्मर की ओर चलने लगे। एक बुजुर्ग की नजर अशोक पर पड़ी और उसने उसे अंधेरे में भी पहचान लिया।

"बरखुदार, तुम भी आओ।"

कौन है यह? कादिर ने बजुर्ग से इशारे से पूछा।

"सामने वाले मकान में मोहन जी रहता है ना? अरे वही मास्टर जी। उसी का बेटा है। दिल्ली में ऊंची तालीम पा रहा है।" बुजुर्ग ने कादिर कबाड़ी को ही नहीं, सबको अशोक का परिचय दिया।

ट्रांसफार्मर के साथ बने लकड़ी के खोखे में बैठा लाइनमैन निश्चिंत होकर हुक्का गुड़गुडा रहा था। अपनी ओर आते लोगों को देखकर वह मंद–मंद मुस्कारने लगा।

"महीउद्दीन। तु कुल्ली से लैन मैन क्या बन गया कि अपने को बखशी गुलाम मुहम्मद समझने लगा। कान खोलकर सुन। अगर ट्रांसफार्मर को फौरन ठीक नहीं किंया तो मैं तुझे ही फौरन से पेशतर ठीक करूंगा। इन सब लोगों के सामने।" लाइन मैन के हाथ से नली छीनकर वह खुद हुक्के के कश लेने लगा।

"जब तक साहब नहीं आएगा, मैं कुछ नहीं कर सकता।" लाइन मैन ने कठोर मुद्रा बनाकर कहा और फिर अपने भिंचे होठों के बीच मुस्कुराहट की एक पतली सी रेखा खींच कर मुद्रा की कठोरता को खुद ही झुठला दिया।

"साहब साले को भी अब तक आ जाना चाहिए था। जाने कहां मर गया है?"

"हो सकता है कि उसके घर में लाइट हो।" एक लड़के ने कहा।

कादिर ने लाइन मैन को छोड़ साहब और उसका पक्ष लेने वाले इस लड़के को अब अपने क्रोध का निशाना बनाया– "क्यों? उसके घर में कोई सिपेशल केन्यकशन उसकी बहिन की ससुराल से आता है या तेरी मां की ...."

"मैं जाकर उसे ले आता हूं।" लड़के ने कादिर को गाली पूरी करने का मौका ही नहीं दिया और साहब के घरकी ओर दौड़ा।

अशोक हैरान था। यदि ट्रांसफॉर्मर में कोई 'फाल्ट' आ गया है तो क्या यह लाइन मैन उसे खुद ठीक नहीं कर सकता है? क्या इस छोटे काम के लिए भी साहब का आना जरूरी है? मालूम नहीं यह साहब का आना जरूरी है? मालूम नहीं यह साहब जे.ई. है या ए.ई। खैर जो भी हो, इंजीनियर तो बस राय या हुक्म देते हैं। काम लाइन मैन, मेकैनिक, फिटर या इलेक्ट्रीशियन को ही करना होता है। यहां भी इसी लाइन मैन या किसी और छोटे मुलाजिम को ही ट्रांसफार्मर का नुक्स निकालना होगा। हो सकता है कि इंजीनियर या किसी दूसरे साहब का मौका मुलहाजा भी जरूरी हो।

"यह लो। आ गया साहब।" किसी ने कहा और लोगों के चेहरों पर चमक आ गई जो अंधेरे में भी साफ दिखाई दे रही थी। अशोक ने भी यह चमक देखी लेकिन साहब उसे कहीं नजर नहीं आया। हां, जो लड़का कुछ देर पहले यहां से गया था उसके साथ उसी की उम्र का एक और लड़का भी था जिसका मुंह बंदर की तरह लाल था और सिर के बाल हीं

नहीं, छोटी–छोटी आंखों की भौहें और बरौनियां भी चांदी सी सफेद और चमकीली थीं। उसने एक फटा पुराना फिरन पहना था और उसके पांव नंगे थे।

''काली कुतिया के सफेद पिल्ले, कहां मर गया था?'' कादिर ने इसी लडके से जवाब तलब किया।

तो यही बेचारा 'ऐलबीनों' इनका साहब है। अशोक मन ही मन मुस्कुराया।

साहब ने कादिर की बात का कोई जवाब नहीं दिया। वह खाना बीच में ही छोड़कर आया था जो अभी तक मुंह के आखिरी कौर को दांतों से चबा रहा था। कौर पूरी तरह चबाने के बाद वह बीच सडक में आकर छाती पीटते और ऊंची आवाज में गाते हुए स्यापा करने लगा।

दिल्ली से आई आंधी
फूट पड़ी इंदिरा गांधी।
इंदिरा गांधी ने चलाया तीर
नाचने लगा शेरे कश्मीर ।
कश्मीर में हुआ अंधेरा
दीया फट जाए इंधिरा तेरा।

और फिर नर्सरी राइम और स्यापे का आवरण हट गया और इंदिरा गांध
ी के नाम भारी–भरकम गालियों की ताबड़–तोड़ बौछार होने लगी। मुहल्ले में बिजली नहीं, इंदिरा गांधी की ऐसी। नलों में पानी नहीं, इंधिरा गांधी तैसी। साहब के मुंह से गोलियों की बौछार हो रही थी और सुनने वालों की मुंह से हंसी के फब्बारे फूट रहे थे।

''महीउद्दीन अब बहुत हो चुका।'' बुजुर्ग आदमी ने दाहिने हाथ से अपनी ठुड्डी पकड़कर लाइन मैन ने कहा। उसका लिहाज करते हुए लाइन मैन मंद–मंद मुस्कराता हुआ उठा और उठकर धीरे–धीरे ट्रांस्फार्मर के पास चला गया। उसने स्विच 'आन' किया और सारा मुहल्ला फिर से रोशन हो गया। घरों से निकल कर गलियों में आए बच्चे सीटियां बजाने लगे।

ट्रांसफार्मर के पास खड़े लोग जेबों से पांच–पांच दस–दस पैसे क सिक्के निकालकर उछालने लगे और साहब सबको सलाम बजाता हुआ सिक्के समेटकर अपनी जेबों में भरने लगा।

बुजुर्ग अशोक के निकट आकर उससे कहने लगा–"पिछले सत्रह–अठारह सालों से लोगों ने मन बहलाव का यह अच्छा बहाना खोज लिया है। जब जब लाइट चली जाती है, पानी चला जाता है, मिट्टी के तेल की किल्लत हो जाती है या राशन डिपो पर गीली चीनी और सड़ा–गला अनाज मिलता है ता असद नजार का यही सफेद बाल–खाल वाला छोकरा इसी तरह सड़क पर आकर लोगों का दिल बहलाता है और कुछ लोग ज़कात समझकर उसे कुछ पैसे भी देते हैं। पहले यह काम रहमान रेडा करता था। अब बैंक से कर्जा लेकर उसने आटो खरीदा है और मुहल्ले वालों की दिलजोई का काम इस छोकरे को सौंपा है।"

अशोक ने बिजली की रोशनी में बुजुर्ग को पहचान लिया। वह कोई और नहीं गली में दूध दहीं बेचने वाला रमज़ान जू या रमज़ान गुर (ग्वाला) था।

वापस घर आकर अशोक ने देखा कि बिज़ली आने से घर वालों में भी बिजली की सी शक्ति आ गई थी। पापाजी अपने और उसके शर्ट–पैंटों को प्रेस कर चुके थे। मम्मी ने प्लास्टिक शीट बिछा कर उस पर थालियां रखी थीं और पास ही छोटे तख्ते पर सब्जी के दोनो और भात भरा प्रेशर कुकर लाकर रख दिया था। बाकी बर्तनों को पिंकी मांज–धोकर रैकों पर सजा चुकी थी। तीनों बे–सब्री से अशोक की प्रतीक्षा कर रहे थे। वह आता तो सब खाना खाकर अपने–अपने बिस्तरों में घुस जाते! बिजली का क्या भरोसा? आकर किसी भी क्षण फिर से चली जाएगी।

खाना खाने के बाद अशोक भी अपने कमरे में जाकर बिस्तर में घुस गया। उसने किताब उठाकर खोली। लेकिन कुछ पढ़ने के बजाए वह अभी–अभी घटी घटना के बारे में सोचने लगा। बिजली लाइनमैन महीउद्दीन बंद करता है और गालियां इंदिरा गांधी को दी जाती हैं। चौबीस घटों में सिर्फ पांच छः बिजली रहती है लेकिन इसके कसूरवार बिजली

महकमे के बड़े बड़े इंजीनियर और हाकिम या छोटे कारिंदे नहीं, सिर्फ दस बीस रुपए महीने फीस देकर हीटरों बॉयलरों का इस्तेमाल करके पांच छः सौ रुपए की बिजली खर्च करने वाले आम लोग नहीं, बिना कोई फीस दिए छोटी–बड़ी मशीनें चलाने वाले कारखानेदार नहीं, कैपैसिटी से बहुत कम पावर जेनेरेट करने वाले पावर हाउस और उन्हें चलाने वाली रियासती सरकार भी नहीं, बस एक इंदिरा गांधी है। लोग शायद जानते हैं कि कसूर इंदिरा गांधी का नहीं है। इसीलिए इस सारी नारेबाजी से रोष का नहीं, विनोद का भाव प्रकट हो रहा था। रमजानजू का कहना है कि यह सिलसिला सत्रह–अठारह बरस से चला आ रहा है। आज 1986 है। सत्रह–अठारह बरस पहले 1970–71 का था जब युद्ध में पाकिस्तान हार गया था और उसके दो टुकड़े हो गए थे। मुस्लिम मुल्क को ताड़ने वाली औरत के खिलाफ इन मर्दे मोमिनों के क्रोध को समझा जा सकता है। लेकिन आज इंदिरा गांधी जिंदा कहां है? उसकी मृत्यु आज से पांच वर्ष पूर्व हुई थी। या हो सकता है कि उसके मरने के बाद भी लोगों का उसके खिलाफ गुस्सा ठंडा नहीं हुआ हो। डेढ़ हजार साल पहले मारे गए व्यक्तियों के लिए आज भी छाती पीटने और पथरीली सड़क से टकरा कर सिर फोड़ने वालों के जुलूस अशोक अपनी आंखों से देख चुका है। उसके दोस्त शौक़त हुसैन ने एक दिन उसे बताया था कि करबला महज़ एक तारीख वाक़ा नहीं, एक अबदी सचाई है। इमाम हुसैन की शहादत के बावजूद यज़ीद, कूफ़ा के हाकिम उबैदुल्लाह और उसकी सत्तर हज़ार की फौज के साथ जंग अभी भी जारी है। पाकिस्तान के टूटने पर सदर याहिया खान ने भी कहा था कि जंग अभी जारी है। अगर जंग जारी है तो दुश्मन भी जिंदा है। यज़ीद लानत की मौत मरने के बाद भी जिंदा है। इंदिरा गांधी बेअंत और सतवंत की गोलियों से छलनी होने के बावजूद जिंदा है। जो भूत है, वही वर्तमान भी है और शायद भविष्य भी वही होगा। ए केस एगेंस्ट क्रोनॉलॅजी इन द स्टडी ऑफ हिस्टरी !!

अपने इस विचार पर अशोक स्वयं चमत्कृत हुआ। उसने किताब नीचे रख दी और सेमिनार पेपर के लिए बनाई नोट बुक को उठाकर उसमें कुछ लिखने लगा।

दर्दपुर

-क्षमा कौल

खबरें प्रसारित हो रही थीं। बनजी ने उँगली के इशारे से माँ को समझाया था कि फिलहाल वह चुप रहे। पूरी खबर सुनने दे। फिर पूरी खबर वह उसे सुनाएगा।

प्रायः ऐसे इशारे देखकर जिगरी अपने बेटे बनजी से रूठ भी जाती है। उसे लगता है कि बेटे में उसके लिए इतना भी आदर नहीं। उसकी चिंता, जिज्ञासा और घर के बिछोह को वह कुछ भी नहीं समझता। फिर जिगरी कम–से–कम चौबीस घण्टे या अधिक–से–अधिक अड़तालिस घण्टे तक रूठी रहती है। बनजी के मनाने में देरी करने या जिगरी के

धैर्य के टूट जाने पर यह बात निर्भर करती है।

फिर बनजी कहता है, "कोई खबर नहीं है हमारे लौटने की। आतंकवादी कौन है माँ। हमारे पड़ोसी ही आतंकवादी हैं। बाहर का आतंकवादी सिर्फ पहल करने के लिए आया था, बाकी काम तो भीतर के आतंवादी ने ही किया है....और वह न खत्म होने वाला है। बाहर से मेहमान आतंकवादी ने आकर आग लगायी... फिर बाकी तैयार लकड़ियाँ चटक–चटक जल उठीं। क्या हमें निकाल बाहर करने वाला पड़ोसी चाहेगा कि हम वापस लौट आएँ। हन्दवारा, कुपवाड़ा में टिकर में खुँखार आतंकवादी हैं माँ। खुँखार आतंकवादी। वह गाजी बाबा वहीं रहता है। जैसे कोई राजा रहता है। सरकार को सब खबर है...यहाँ तक कि भारत सरकार को भी खबर है, मगर राज्य की आतंकवादी सरकार हाथ नहीं लगाने दे रही है गाजी बाबा को। गाजी बाबा को वे पूजते हैं...नित फरमाइशी मांस, मदिरा और पसन्द की स्त्री उसे मयस्सर रखते हैं। यही उनका ईमान, धर्म और नैतिकता हो गयी है...तुम इन्तजार करो कि खबर आएगी बीबीसी से...कि भट्टो ! भट्टिनियो ! आओ। बाइज्जत लौट आओ अपने वतन....यहाँ आतंकवादियों का अन्त हो गया।...यह सब नहीं होने की सम्भावना माँ।

दूर–दूर तक नहीं।''

''सरकार में आतंकवादियों को...गाजी बाबा का कौन है जो नहीं पकड़ना चाहता?'' जिगरी ने ऐसे पूछा मानो कह रही हो कि जरा बेटा उसका नाम बता दो। मैं उसकी ऐसी की तैसी करके दूँगी। नहीं तो मेरा भी नाम गौरी रैणा नहीं।

''कौन नहीं चाहता। फारूक अब्दुल्ला नहीं चाहता। वह एक आवाज निकालकर जय हिंद करता है और दूसरी आवाज में, कश्मीर में, नाले तखबीर अल्लाहो अकबर करता है। दोनों आवाजें अलग–अलग और साफ रखने की पूरी–पूरी कोशिश करता है। सफल कोशिश करता है कि दोनों आवाजें आपस में नहीं टकराती हैं। इतनी सफाई से वह भारत के हुक्मरानों को उल्लू बनाता है, भारत की जनता का उल्लू बनाता है कि नफासत से कश्मीर में लोग कहते हैं कि आखिर शेर का बेटा है। जानता है। राजनीति करता है। जानता है इसलिए केन्द्र सरकार की आँखों में मिर्च पाउडर, वह भी कश्मीरी कैसे डालें, ताकि हकीकत तक, उसके असली मन तक वे पहुँच ही न पाये। वैसे भी वे निठल्ले और वोटों के मारे हैं। कौन–सी उनको कश्मीर की चिन्ता है, फिक्र है। वे आतंवाद जारी रखें....और केन्द्र उनको पैसे के थैले भेजता रहे...ताकि वे कहें कि लीजिए भारत में कश्मीर का विलय अन्तिम है....कश्मीर भारत का अटूट अंग है.. मान लो ऐसा न हो। उन्हें असल बात पता हो पर पैसे की कुछ तो बन्दरबाँट होगी ही। कुछ तो तकसीम होगा ही। है कि नहीं। और जब यह महान नाटककार दिल्ली में कहता है–जय हिन्द। गद्‌गद होते हैं हिन्दू। गद्‌गद होते हैं भारत के गद्दीदार। सोचते हैं चलो झूठ ही सही। गद्‌गद होते हैं सब–के–सब। समझते हैं कि फारूक अब्दुल्ला क्या बला का हिन्दुस्तानी मुसलमान है। हूबे वतन।''

''वादी का मुसलमान समझता है, फारूक अब्दुल्ला ने भारत को मूर्ख बनाने के लिए जय हिन्द कहा। लेकिन भारत सरकार और भारतीय नहीं समझते कि वास्तव में यह क्या महानाटक चल रहा है। इस सारी दास्तान की इस दो–धारी तलवार का हमें पता है। सिर्फ हमें। सिर्फ भट्टों को।

इसलिए मीडिया वाले भी हमें नहीं बोलने देते। कहते हैं, छोड़िए...छोड़िए. ..आप तो देश को साम्प्रदायिकता की आग में झोंकने को तैयार हैं।'' बनजी ने विस्तार से जिगरी को समझाया था ताकि वह उस दुःखद इन्तजार से निजात पाए।

सुधा को याद आया कि जिगरी घर से ज्यादा अपने गुरु स्वर्गीय भट्टबब के आश्रम में जाने को आतुर थी, उद्यत थी, उत्सुक थी। प्रायः उस आश्रम के हवन–प्रकोष्ठ को याद करती। हे भगवान ! हे गुरुदेव ! उसकी रक्षा करना। ऐसा न हो कि उस कुण्ड को मैला किया गया हो। उनका पवित्रीकरण में प्रथम कदम यही होता है कि वे सभी चाजें अपवित्र करो। जैसे सुधा ने एक बार हनुमान मन्दिर जाने पर देखा था कि उस पुचमुखी पत्थर की मूत्री पर जितना भी जल चढ़ता है, वह वितस्ता में एक खड्ड के बरास्ते गिरता है।

उस दिन मंगलवार था। वह टॉठी के साथ हनुमान मन्दिर गयी थी। टॉठी हनुमान जी भक्त थी। टॉठी हनुमान चालीसा इत्यादि पढ़ रही थी। तब तक सुधा अपनी जिज्ञासा शान्त करने लगी कि देखें इतनी ऊँचाई से यह जल प्रणाली में से होते हुए कैसे गिरता है वितस्ता में। नीचे कई ढोंगे हैं जिनमें हॉजी रहते हैं।

सुधा का दिल भयावह ढंग से धक् से रह गया बाहर झाँककर। मन एक विचित्र ग्लानि, आक्रोश और असहायता बोध से भर उठा। मन में प्रश्न आये कई। 'यह क्या ? क्या यह सिर्फ मैंने देखा? क्या इस पर किसी की नजर ही नहीं पड़ी है अभी तक? हे प्रभु ! त्राहि माम्। हे प्रभु उन पर गाज क्यों नहीं गिरती अभी, इसी दम? वे नेस्तनाबूद क्यों नहीं होते अभी? इसी क्षण। ऐसा हो रहा है और दुनिया कितनी शान्ति से चल रही है। हे राम ! हे हनुमान! अगर इनके अल्लाह के सन्दर्भ में किसी ने कोई कटाक्ष भी किया हो तो ये उसकी उसी दम जान न ले या जान न दे। पर...पर यह मैंने यह क्या देखा टॉठी? हे प्रभु यह सब।' सुधा की छटपटाहट थी।

वह पंचमुखी हनुमान की परिक्रमा की जगह आयी। वहीं पर टॉठी हनुमान चालीसा सहित सभी पाठ करती। जो उसे कण्ठस्थ भी थे, और उस तरफ दीवार पर संगमरमर के पत्थर पर भी उत्कीर्ण। जिससे पाठ विशुद्ध और सम्पूर्ण हो।

उसने देखा कि टॉठी करमाला जप रही है। उसका धैर्य टूट रहा है। वह अधीर हो रही है। मन हो रहा था कि चीखें, चिल्लाएँ...शोर मचाएँ।

"कौन है यह मुसलमानों का खुदा? कहाँ है? कह दूँ मैं उससे कि ऐ खुदा। तनिक समझा अपने इन अकीकतमन्यों को। क्या यही हैं तेरे बन्दों की नेक करतूतें?"

•

टॉठी अभी भी आँखें नहीं खोल रही है। सुधा को लगा कि वह मानो आल हद ही कर रही है, "कैसे कहूँ टॉठी से कि उठो ! कभी मन से उसका

ध्यान करने से ज्यादा हाथों और बाहरी तरीकों से भी ईश्वर की रक्षा करने की जरूरत आन पड़ती है। पिछले छः सौ सालों से हमारा ईश्वर पिछड़ रहा है। पिछड़ता जा रहा है। उफ...हे मेरे ईश्वर। लेकिन तुम नहीं घबराना। बिल्कुल नहीं घबराना। मैं हूँ न। तुम्हारी हनुमान। हनुमान जी. .. मैं तुम्हारी सेवक हनुमान।" सुधा के मन का आक्रोश एक शक्ति, जोश और संकल्प में बदल रहा है।

सुधा का धैर्य टूट रहा था। काश ! उसके साथ दीप्ति भी होती। अगर टॉठी को सह अचानक हिलाकर अपने ध्यान से लौटने को मजबूर करेगी तो फिर टॉठी बहुत गुस्सा हो उठेगी। उसने एक तरकीब की। वह टॉठी के पास गयी और उसकी जाँघ पर हल्के स्पर्श के साथ उसकी बगल से सटकर बैठ गयी मानो वह सहज ही यह मान ले कि उसकी छोटी बहन, नन्हीं बहन घर जाने को लालायित है।

टॉठी ने आँखें खोलीं। शायद उसका पाठ या ध्यान भी पूरा हो उठा

था। वह शायद अतिरिक्त क्षण ईश्वर के ध्यान में आज लगा रही थी।

"...हाँ...हाँ....चलते हैं....चलो...चलो उठो...।" सुधा के स्पर्श का उत्तर टॉठी ने देते हुए उठने का उपक्रम किया।

"अरे नहीं टॉठी। बात सुनो इधर आओ त्रेठ पड़ी है। इन हाजियों पर एकदम त्रेठ पड़ी है इन पर। अब त्रेठ पड़ेगी देखना।"

"क्यों क्या हो गया।" टॉठी घबरा उठी। और हतप्रभता की स्थिति में भी आ गयी। क्या बात है जबकि मन्दिर में सब कुछ सामान्य है। शान्त है। दैनन्दिन की भाँति है। कहीं कोई हड़बड़ी नहीं है। लोग आ रहे हैं। हनुमान जी की परिक्रमा कर रहे हैं। चरणामृत पीकर और प्रसाद प्राप्त कर जा रहे हैं। कुछ लोग दीवार पर संगमरमर पर उत्कीर्ण 'हनुमान चालीसा' या 'को नहि जानत है जग में कपि संकट–मोचन नाम तिहारो...।' पढ़ रहा है। फिर दिद्दा उसे बड़ी बेबसी और बेकली से उस मूर्ति वाले परिसर में ले गयी जहाँ जल चढ़ाये जाने की पूरी व्यवस्था है।

"देखो।" खिड़की से अपना आधा जिस्म बाहर निकालकर सुधा ने टॉठी को भी वैसे करके देखने का कहा।

"देखती नहीं हो। वह देखो....ठीक से देखो...वह नीचे।"

कुछ क्षणों के बाद टॉठी ने अपनी छाती पर धौल मार ली, "हे हनुमान! हे प्रभु !"

नीचे एकदम उसी सीध में एक खड्ड–सा बनाया गया था। वितस्ता के तट पर जिसकी सीध में ईश्वर पर चढ़ाया जल प्रणाली के माध्यम से बहकर नीचे बहता पहले खड्ड में फिर खड्ड के बरास्ते वितस्ता में गिरता। इस खड्ड में इन ढोंगों में, हाउसबोटों में रह रहे हॉजी मुसलमान हगते और प्रणाली में गिर रहे जल से हगने के बाद अपने जिस्म पर लगा पाखाना साफ करते। उस क्षण वहाँ एक भयावह, विकराल काया का हॉजी हग रहा था।

"हे प्रभु ! हे प्रभु ! त्राहि ! त्राहि !" टॉठी ने कहा और उस मर्द को ऐसा

करते हुए न सहकर सुधा से कहा, " अन्दर आओ...चलो ! यह हमारी किस्मत है। कोई गाज गिरनी होगी इन पर। त्रेठ पड़ेगी इन अधकटों पर। पता नहीं जो दूसरे के धर्म की पवित्रता भंग करता है वह धार्मिक कैसे कहलाता है अपने धर्म में भी। चलो...चलो...हे प्रभु! हे भगवान...चलो...देर हो गयी।" लेकिन सुधा फिर एक बार देखने को बाध्य–सी हो उठी। अब वह मर्द हट चुका था और उस कुण्ड में पाखाना ही पाखाना दिखाई दे रहा था। ऊपर से बेफिक्र और बेपरवाह भक्त ईश्वर पर जल चढ़ा रहे थे बदस्तूर।

"ओफ्फो... ! यह तो आत्मा को छेद रहा है सुधा। प्रभु...प्रभु...।"

"टॉठी तुम प्रभु...प्रभु और त्राहि...त्राहि कर रही हो...इससे क्या होगा? हमारी यही आदत है–त्राहि–त्राहि करेंगे। राम...राम करेंगे। शिव...शिव करेंगे। त्राहि...त्राहि करने वाले...मैंने प्रायः देखे हैं...अजहद किस्म के बेबस होते हैं।"

"क्या उसको बताएँ? मोटे बाबाजी को?"

"तो क्या? और क्या? वही तो यहाँ के अनुरक्षण का जिम्मेदार हैं।"

"क्यों न मैं उस भट्ट को भी बता दूँ कि वह भी तो इसको देखकर अपना रद्दे अमल दें और इसके निराकरण के लिए कुछ करें...बाबा जी से बात करें...।

"कुछ करो टॉठी। हम ऐसे ही नहीं जाएँगे यहाँ से। बिना कुछ किये।"

टॉठी तेज कदमों से चलकर उस भट्ट की तरफ बढ़ने लगी जो नजरों से तो बहती हुई वितस्ता को निहार रहा था पर ध्यान से वह सामने खड़ी एक स्त्री से बातें कर रहा था। टॉठी को अपनी तरफ आती हुई देख उसका देखना और बातें करने का वेग अचानक रुक गया। उसको लगा कि यह युवती उसकी तरफ किसी विशेष प्रयोजन से चजी आ रही है, जिसे न तो वह जानता है और न ही उसने उसे कहीं देखा है। उसने स्त्री से बातें करना एकाएक रोका और प्रश्नाकुल दृष्टि से उत्सुक हो उठा कि

आ रही युवती के प्रश्न का स्वागत कर सके।

"जी....?"

"जी मुझे आपसे कुछ गम्भीर बात करनी है।"

"हाँ...हाँ... ।"

"आप जरा वहाँ से नीचे झाँकिए...जरा जाकर पहले झाँकिए तो...आप भी देखिए जाकर कि पंचमुखी मूर्ति वाले परिसर की खिड़की से कि नीचे जहाँ से ईश्वर पर चढ़ाया जल निर्माल्य बनकर हमारे हिसाब से वितस्ता में जाता है...लेकिन देखिए तो वास्तव में वह जाता कहाँ है...वह वहाँ से.. .आप देख आइए कृपा करके पहले... ।"

अनिच्छा से पुरुष पहले चल पड़ा फिर धीरे–धीरे उसके पीछे स्त्री भी हो ली। टॉठी बहुत कर्मण्य मन से प्रतीक्षा कर रही है कि वह पुरुष देखे और फिर टॉठी देखें कि उस पुरुष पर क्या बीतती है।

थोड़ी ही देर में स्त्री पुरुष लौट आये। पुरुष निर्विकार और सहज था। स्त्री असामान्य भी और मुँह से हॉजियों को अपशब्द और अभिशाप बोल रही थी। मुँह पर क्षोभ का वर्ण था।

"त्रेठ पड़े इनको। इनका नाश हो। हे हनुमानजी ! आप इतने बलवान होकर इन पापियों का क्षय नहीं करते हैं।"

"हनुमानजी क्या करेंगे। यह चीज हमें करनी है। यहाँ क्या खुदा हगे आता है। खुदा का मानने वाले हगते हैं और खुदा का प्रचार करते हैं।"

"यही सोच रहा हूँ कि करूँ तो क्या करूँ।"

"मेरे खयाल से आप मोटे बाबाजी से बात क्यों न करें.... ।"

"देखिए, हम उसकी तरफ से क्यों सोचें। हमें क्या पता है कि वह क्या–क्या कर सकते हैं। वह सब उन पर और श्री हनुमान जी पर छोड़िए न।"

"चलिए। चलिए। मुझे कोई हर्ज नहीं। चलिए आप भी। मिलकर बोलते हैं।"

सुधा को याद आया पिछले जुम्मा के दिन मस्जिद में वाजख्वानी में मुल्ला कह रहा था कि ऐ ईमानवालो ! एक दिन सारी दुनिया में ईमान कायम होगा। क्या ईमान माने इस्लाम? गैर इस्लाम माने बेईमान या काफिर?

लेकिन भट्ट कहते हैं–'ए भट्टो भाड़ में जाने दो ईश्वर-वीश्वर। अपना जो दम, जो दिन निकलता है, निकालो चुपचाप। आँख मूँद कर। धर्म–

वर्म कुछ नहीं होता। यहाँ तक कि समुदाय, समाज भी कुछ नहीं होता है... कोई भी ऐसी चीज नहीं होती है...क्योंकि हम जो भी हैं बचे–खुचे हैं। इसलिए चुपचाप जी लो।

व्यंग्य

पशु गाथा

-मोती लाल क्यमू

चालाकी और राजनैतिक दलाली से जितना भी माल-मुत्ता और धन सियार और गीदड़ बना सकते थे उससे उन्होंने बड़ी ही सावधानी के साथ अपने लिए सरोवर के किनारे कोठियां बनवा ली थी। उन दोनों कोठियों को व्यवस्थापकों ने पर्यटकों के लिए किराए पर लिया था। किराया उन दोनों को तो मिलता रहा पर रहने के लिए सरकार ने उनकी व्यवस्था सुरक्षित स्थान पर करवा दी थी। उनकी छोड़ी हुई कन्द्राओं में उनके सगे संबंधी रहने आए थे जो उनका गुणगान करते नहीं थकते थे दिन को वे सियाग जमात के कार्यालय में और सुबह-शाम जंगल ठेकेदारों, होटल के मालिकों, सरपंचों, विकास योजना के अधिकारियों, वकीलों, कुछेक प्राध्यापकों, नेताओं और संवाददताओं का गुप्त रूप से पीछा भी करते रहते थे। वनांचल में कई पशु उनकी इन चालों से परिचित हो गए थे पर रुपैया पैसा खर्च करते रहने से वे अपने चमचों की संख्या सदस्यों के रूप में बढ़ाते जाते थें और व्यवस्था के किसी अघोषित फंड से उनको मासिक महीना मिलता रहता था। कोई भी हंगामा, गुप्त कार्य या किसी की भी मारपीट करवाने के काम यही महीना पाने वाले पशु आते थे जिन्हें वनांचल भाषा में 'चम' कहा जाता था। व्यवस्थापकों ने कभी एक चम को दूसरे चम से पहचान नहीं करवाई थी केवल इस गुप्त काम का पता सियाग जमात के सियार और गीदड़ को मालूम था। हड़ताल करवाने, ज़लसा जलूस और नारेबाजी के काम आने वाले चम दफ्तरों से काम करवाने पर दूसरों से अपना मावज़ा भी प्राप्त करते थे। कुछेक चम ऐसे कार्यों के लिए पारंगत माने जाते थे। इसीलिए 'जम' कहलाते थे। जम में नेतागिरी और बातचीत करने का सलीका होता था पर चम झगड़ालू टाईप हुआ करते थे। चम-जम अधिकार सियार और लोमड़ियों की जाति के हुआ करते थे। केवल जिस दफ्तर से उन्हें महीना मिलता था उस दफ्तर में एक बूढ़ा हांगुल था जो दूर से ही सभी चम और जम का नामों से पहचानता था।

धन बांटने के सिवाय वह बूढ़ा हांगुल किसी और काम में दखल नहीं देता था। चम और जम दोनों उसे 'खरचम' कहते थे क्योंकि केवल वह जानता था कि कितना खरचता है और कितने का हिसाब रखता है। खरचम जानता था कि चम और जम की संख्या बढ़ने से किसी भी समय कोई अनहोनी घटना घट सकती है और इन पशुओं पर भरोसा नहीं करता रहता था। खरचम ही देर गए तक सियाग जमात का हिसाब किताब भी देखता था। यह सारा काम वह अपनी निपुणता और तजुरबे के आधार पर करता था।

सुबह अपने काम पर जाने से पहले खरचम तीन पत्थर के इर्द गिर्द तीन चक्कर लगाया करता था पर जब तीन पत्थर के एक पत्थर गायब हो गया उसने अपने हांगुल हिरन जाति के वनछोर से बाहर आना ही छोड़ दिया। क्योंकि यह बात आग की तरह फैल चुकी थी कि तीन पत्थरों में से जो एक पत्थर चुराया गया वह चम या जम जमातियों का काम है। उसका मन टूट गया था। वह समझता था कि कोई अशुभ होना निश्चित है। वैसे भी सभी हांगुल हिरण शंकित और भयभीत हो गए थे। उन सबों ने विद्रोह करने की सोची थी पर अहिंसक तरीके से ही। इसलिए रोज

मध्याह्न समय के बाद हिरण हांगुल पशु समुदाय का मौन जलूस पशुचाल से डैंजर गली तक जाकर लौट आता था। कृशकाय की हत्या से वातावरण में और भी तनाव बढ़ गया था। कुछेक समाचारपत्रों में यह खबर भी आई थी कि कृश्काय की हत्या कालू भेड़िये के किसी पिछलगू ने की होगी पर व्यवस्थापक चुप थे। पुलिस की इस दलील से कि जिस बंदूक की गोली से कृश्काय की हत्या की गई थी वह विदेशी बंदूक की गोली थी, सनसनी फैल गई थी। इससे इस बात की भी पुष्टि होती थी जिसके कारण एक हांगुल युवा गुप्तचर को व्यवस्थापकों ने निलम्बित किया था जिसने लगातार छः महीनों तक अपनी डायरी में यह लिखा था कि वनांचल के युवा भेड़िये सीमा पार कर खतरनाक हथियार लेकर लौट रहें हैं और वनांचल में इन शस्त्रों का जमाव किसी भी विस्फोटक स्थिति का कारण हो सकता है। व्यवस्थापकों ने इस युवा हांगुल को झूठी रपट

लिखने पर निलंबित किया था और वह अपने सजातीय हांगुल हिरन जाति को इस तथ्य से वाकिफ कराता था पर कोई उसकी बात को सही नहीं मानता था। अचानक उसके निलंबन का हुकुम वापस ले लिया गया और उसे बहाल किया गया पर साथ ही उसका तबादला भी किया गया। अब हालात अव्यवस्था ही दर्शा रहे थे।

सियाग जमात के कार्यालय पर रोज–ब–रोज चम और जम कार्यकर्ताओं का आना जाना बढ़ता जा रहा था। कार्यलय पर कपड़े के बने तोरन, ढयोडियां, झंडियां और काली झंडियां के ढेर बनवाए गए थे पर कभी किसी ने यह जानने की कोशिश नहीं की कि आखिर यह सब क्यों और किसके लिए बनाई जा रही हैं।

एक दिन हांगुल–हिरन जाति ने अपना मौन छोड़ कर नारे लगाने आरंभ किए और उसी दिन वांनरों में भी न जाने कहां से जोश आ गया और वह भी उनके जलूस में सम्मिलित हो गए। इस हंगामे का फायदा उठाते हुए युवा भेड़िये भी न जाने किस गली से आकर जलूस में मिलते गए। सब अपने नारे लगा रहे थे। हांगुल–हिरन यह नारा लगा रहे थे, "कातिल को पेश करो"। और "आस्था का सहारा है–तीन पत्थर हमारा है" और "पत्थर को पेश करो"। वानरों का नारा था, "वानरी का रिहा करो मुलज़िम को पेश करो"। भेड़िये छातियां पीट–पीट कर यह नारा बुलंद कर रहे थे, "कालू को पेश करो" और "कालू को छुपाने वाली सरकार – नहीं दरकार नहीं दरकार।" जब जलूस डेंजर गली की ओर बढ़ रहा था तो कुछेक रीछ सूफी–मिज़ाज का धुआं पीकर आ रहे थे तो वह भी जलूस के साथ हो लिए। जोश में आकर वे भी नारे लगाने लगे, "सांझ सवेरे गुफा किनारे गांजे का सहारा है।" दुकानदार और अन्य दर्शक इस को सुन कर और रीछों की चाल को देखकर हंसते जाते थे। आखिर हर विद्रोह और अहतिजाज के प्रदर्शन में हास्य की पुट रहती ही है। सियाग जमात के कार्यालय से कई चम और जम हाथों में छोटी–छोटी झंडियां लेकर जलूस में शमिल हो गए। उनका नारा थ, "किसने किया उनका सफाया–गधा जो कहलाता था।" और "गधे को पेश करो।" इस

तरह जलूस का मुख्य नारा जो सभी की जिह्वा पर था "पेश करो" ही था। वनांचल के कई पशुओं के कुछ न कुछ खो जाने के लिए यह सारा हंगामा सारे विश्व में चर्चा का विषय बन गया। इसलिए प्रेस के संवाददाता अपने कंधों पर वीडियो कैमरे लेकर इस जलूस के साथ खामोश खामोश चल रहा था। दो हांगुल जिन्होंने पंखे साथ साथ रखे थे उसे पंखा भी झुला रहे थे। संवाददाता यह समझ रहे थे कि इस सारे जलूस का यदि नेता है तो वह बुद्धिजीवी हांगुल हैं। इसलिए कैमरे उसका फोटो बे–खटके ले रहे थे। खरचम हांगुल सभी हांगुल हिरनों के पीछे था जिसके पीछे चम और जम अपने काले झंडे ऊंचे फिरा कर यह नारा भी लगा रहे थे," चम जम खरचम–ऊंचा काला परचम।"

जब जलूस डेंजर गली के आगे चौक की ओर बढ़ रहा था तो सामने पुलिस ने दीवार की तरह खड़े रह कर रास्ता रोक लिया और भोंपो से पीछे हटने का एलान किया। सारे हिरन हांगुल भूमि पर बैठ गए और वानर अपनी–अपनी पिछली टांगों पर खड़े रह कर नारे दे रहे थे। सियार, चम और जम काली झंडियां हवा में फिरा कर नारे बुलंद कर रहे थे, भेड़िये वौं वौं की भयावह ध्वनि के साथ नारे लगा रहे थे। सभी पशु जो भी नारा लगा रहे थे उत्तर में "पेश करो पेश करो" ही सुनाई देता था। युवा हांगुल ने एक विदेशी संवाददाता को गौर से देखा और उसके पास चला गया। कुछ बातें आपस में करने के बाद उस स्थल से इकट्ठे चल दिए। नारों के तुमल नाद में कहीं से पत्थर फेंके गए जो पुलिस की ओर ज्यादा और पशुओं की ओर कम फेंके गए। देखते ही देखते पुलिस ने पोजिशन संभाली और खटक खटक ध्वनि आकाश में गूंज गई। अश्रु गैस के गोले फेंके गए। खलबल मच गई। हिरन–हांगुल घटना स्थल से भाग खड़े हुए और वानर दुकानों और मकानों में, खिड़कियों से दरवाजों से और दीवारों से फुदके और सबसे बड़े मेवा फरोश का सारा मेवा उठाकर भाग गए। मेवा चट कर गए और टोकरों से अपना शरीर ढांप कर चलते बने। गली के घरवालों ने अपने मकानों की खिड़कियां पहले ही बंद की थी इसलिए आज उनको नुकसान नहीं उठाना पड़ा पर जिन्होंने ऐसा नहीं किया था उनको कुछ नुकसान उठाना पड़ा। कुछ पशु आपस में ही झगड़ बैठे थे।

सियार सात सितारा होटल के मालिक के घर पर जख्मी हालत में पंहुचा थ छुपने के लिए, और गीदड़ जू भी घायल होकर सियाग जमात के कार्यालय में बेसुद पड़ा पाया गया। कुछेक संवाददाता भागते हुए बुद्धिजीवी हांगुल के पीछे दौड़े और उसका घेराव करके उससे सवाल पर सवाल करते गए। आखिर बुद्धिजीवी ने मौन तोड़ कर कहा, "हमें इस आंदोलत के लिए विवश किया गया है। हमारे प्राचीन आस्था स्थल को अपवित्र किया गया और तीन पत्थर का प्राचीनतम प्रतिमा स्वरूव बीच का पत्थर चुरवाकर हमारी आस्था को ठेस पहुंचाई गई। इस पर व्यवस्थापकों ने उस स्थल को विवादास्पद घोषित करके हमारी भावनाओं को ठेस ही नहीं पहुंचाई अपितु उन सारे हजारों वर्षों से सुरक्षित दस्तावेजों को मान्य मानने से भी नकारा है जिससे उनका पक्षपाती रवैया साफ जाहिर होता है। हमारे पास इसलिए आंदोलन के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। हमारे शांतिपूर्ण जलसे जलूस को भी वही व्यवसथापक अपने चमचों के बीच में छोड़ कर हिंसा का रास्ता अपना कर हमें बदनाम कर रहे हैं। लेकिन हम झुकेंगे नहीं। हमारा शांतिपूर्ण आंदोलन जारी रहेगा। एक कुशल वकील की दिन दहाड़े गोली मार कर सड़क पर हत्या कर दी गई और पुलिस मुलजिम को पकड़ने में नाकाम हो गई है। अब यहां कानून और व्यवस्था नाम की चीज ही नहीं रही।" इतने में ही हिरन हांगुल आकर बुद्धिजीवी को घेराव करके अपने साथ ले गए। डेंजर गली में देर गए तक चम और जम जमातियों के साथ भेडिये हिमायती बन कर पुलिस के साथ पथराव की आंख मचोली खेल रहे थे। जिसके कारण पुलिस के कई कर्मी आहत हो गए थे इसलिए गोली भी चलानी पड़ी थी। तब कहीं वातावरण शांत हो गया था।

उधर युवा हांगुल संवाददाता को तीन पत्थर ले गया जहां वह उसको पत्थरों का प्रतीकात्मक महत्व और प्राचीन मान्यताओं के बारे में बता रहा था। चूंकि पुलिस डेंजर गली चौक के आस पास काफी संख्या में बुलाई गई थी इसलिए तीन पत्थर पर एकमेव पुलिस कर्मी को रखा गया था वह भी अपनी ड्यूटी कम और मटरगशती अधिक कर रहा था। विदेशी ने उसे एक विदेशी पीने को दी और वह मस्त हो गया। सियार और भेड़िये यह

सब देख रहे थे अतः गीदड़ गायकी और वौं वौं की ध्वनि से उन्होंने उसका वीडियो कैमरा छीन लिया और युवा हांगुल को छीना झपटी में घायल ऊं ऊं की ऊंग से पुलिस कर्मी ने अपना डंडा घुमाना शुरू किया तो सियार भी भाग खड़े हुए। बेचारा युवा हांगुल लड़खड़ाता हुआ वापस हांगुल हिरन अंचल लौट आया।

भेड़ियों ने एक गुप्त स्थान में जाकर कैमरा से विडियो रील निकाल कर उन सब हिरन हांगुल, सियार–गीदड़, रीछ, वानर और अन्य पशु जातीय के चुने–चुने सरगनों को भली–भांति देख लिया और खुंखार भेड़ियों को उनके नाम और पता–ठिकानों से अवगत कराया गया। यह काम बड़ी ही सतर्कता और सावधानी के साथ किया गया। जब विदेशी संवाददाता ने उसके साथ हुए अव्यवहार और कैमरा छीनने की रपट कराई और तहकीकात शुरू हुई तो तीन पत्थर पर पहरा देने वाले एकमेव सिपाही ने कहा कि तीन पत्थर पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। उसने विदेशी संवाददाता को पहचानने से भी इन्कार किया।

समाचार पत्रों में शांतिपूर्ण जलूस पर अश्रुगैस और गोलियां चलाने की जिम्मेवार पुलिस को ठहराया गया था। गोली लगने से एक चम सख्त आहत हुआ था और उसे हस्तपाल में देखने मिलने वालों का तांता बना रहता था। गीदड़जू वन–प्रमुख की सरकारी कोठी पर एक दिन और एक रात गुजार कर गीदड़ी के पास पहुंचा। सियार सात सितारा होटल के मालिक के घर में सात दिन तक रहा। इन दिनों में और भी घटनांए घटीं। बुद्धिजीवियों के बयान को 'पशु–कीर्ति' ने पूरा छाप लिया था जिससे सियार–गीदड़ जाति और भेड़िये नाराज हो गए। सियार–गीदड़ तीन पत्थर पर रोज सभांए करने लगे और विवादास्पद स्थान को दो सदियों से अपने अधिकार का क्षेत्र जतलाते थे। पुलिस उनको यहां से भगाने के कई यत्न कर चुकी और रोज उनके एकत्र होते ही हल्के लाठी चार्ज के साथ पीछा करती थी। इस डर से हिरन हांगुल वहां से गुजरते भी नहीं थे। आ बैल मुझे मार वाली बात थी। समाचार पत्र रोज हंगामा भरे समाचारों से भरा रहता था अतः उनकी बिक्री भी बढ़ गई थी।

एक दिन महीना बांटने के हेतु खरचम नौकरी पर गया। वह जिस भी चम अथवा जम को महीना देता जाता था उससे यह मालूम करने को कहता था कि तीन पत्थर से बीच का पत्थर उठा कर ले जाने वाले का सुराग लगा कर उसे बता दे। सभी यह काम करने का आश्वासन देते जाते थे जिससे खरचम को पूरा विश्वास हो गया कि कोई न कोई उसका राजदार बन कर काम कर जाएगा। उसी रोज वह हस्पताल भी गया जख्मी चम का हाल पूछने और उसे महीना देने। यूं सभी चम और जम खरचम का आदर करते थे, क्योंकि वही उनका धन–कुबेर था।

हालात और समाचार पत्रों में छपे संपादकीयों की वजह से वन–प्रमुख ने हिरन हांगुल जाति के नुमाइंदो से मिलने का न्यौता भेजा। बुद्धिजीवी की अध्यक्षता में युवा हांगुल और अन्य हिरन डेलिगेशन के रूप में वन–प्रमुख से मिलने के लिए, प्रपत्र साथ लेकर, और तीन पत्थर के अधिकार के भूमि मिलकियत के कागज़ात लेकर मिलने वाले थे। उन्होंने आपस में यह निश्चित किया था कि डेलिगेशन के सदस्य तीन पत्थर पर मिलेंगे और वहां से यथा समय वन–प्रमुख की कोठी पर जाएंगे। जब बुद्धिजीवी हांगुल घर से तीन पत्थर की ओर जाने के लिए गली के बाहर आए तो फिटमैन भेड़िये ने वों वों की आवाज़ में उसका नमन किया और गोली दाग दी....... शूं........शूं.........शूं.......... हुआ। गोली की खबर फैल गई और हांगुल हिरन और अन्य सियार गीदड़ छाती पीट रोदन करते रहे।

डायरी

वे बारह दिन

-रतन लाल शान्त

अप्रैल 14, 1990, श्रीनगर

खट .....

फिर खट....। नहीं खट नहीं। खिशी शी... शी... की सी आवाज़ होती है।

लगता है कोई उस पार वाले कमरे की खिड़की या दरवाज़ा खोलने की

कोशिश कर रहा है।

मैं उठने लगता हूँ। राज मेरी बांह लपकना चाहती है, पर उसके हाथ में कमीज़ का दामन आ जाता है। वह खींच कर मुझे उठने नहीं देती, बैठे रहने को कहती है। उसकी आंखों में अभी तक जो मौन मायूसी थी, वह अचानक रक्तिम दहशत में बदल जाती है।

'कुछ नहीं है यह। मुझे देखने दो।' उसकी ओर नहीं देखते हुए मैं फुसफुसाता हूँ। वह मेरी कमीज़ नहीं छोड़ती। बोलती कुछ नहीं, पर उसकी आंखें बता रही हैं कि कोई हमारे आंगन की दीवार फांद के आया है, खंभे के सहारे हमारे ड्रइंगरूम की बालकनी पर चढ़ा है और अब दरवाज़ा खोल रहा है.....

'ऐसा बिल्कुल नहीं। कोई नहीं है। .... देखो, डरो मत।'

मैं पत्नी के डर को एक झटके में खत्म कर देने के उद्देश्य से खुद को छुड़ा लेता हूँ और दबे पांव ड्राइंगरूम में पहुंच जाता हूँ। बालकनी पर खुलने वाला दरवाज़ा हवा से कभी बंद हो रहा है तो कभी खि–शी...शी की आवाज़ करता हुआ खुल रहा है।

क्षणभर में मैं अपनी कार्यविधि तय करता हूँ। जाले उतारने का बांस

किचन के कोने से उठा लाता हूँ और वापिस ड्राइंगस्रूम रूम में आ जाता हूँ। दरवाज़े के पास नहीं जा सकता। वहां मुझे देखा जा सकता है। इसलिए दरवाज़े से दूर लेट जाता हूँ और डांड से उसे धीरे से धकेल कर बंद करने की कोशिश करता हूँ। एक झटके में नहीं। धीरे-धीरे, कई बार बंद करके और फिर खुलने के लिए छोड़ के, फिर हल्के से धकेल के, फिर खुला छोड़ के .... आखिर बंद करके और डंडा खड़ाकर पल्ले से टिका के, आड़ लेके चिटकनी चढ़ा देता हूँ। बिना आवाज़ किये।

राहत की सांस लेकर पीछे देखता हँ, राज अनिश्चय, अनुमान और चिंता में दोनों हाथ थोड़ा उठा कर मुझे देख रही है। अब उसे तसल्ली है कि काम हो गया और किसी ने हमें देखा भी नहीं।

हमारे घर के सामने खुले प्लाट में तीन जने आज के 'अलसफ़ा' दैनिक की सबसे ज्यादा ध्यानाकर्षक खबर पढ़ने को सिर झुकाए हुए हैं। हम बंद खिड़की के शीशों से देख सकते हैं कि तीनों गंभीर हैं और बीच–बीच में एक–दूसरे के देखने और प्रतिक्रिया देने के लिए सिर उठा लेते हैं, कोई टिप्पणी करते हैं और फिर अखबार पर झुक जाते हैं। तीनों हमारे पड़ोसी हैं अयूब, अशरफ और खुरशीद। पिछले छः दिनों से रोज तकरीबन इसी समय चाहे–अनचाहे मिलकर अखबार पढ़ते हैं या किसी एक ने अख़बार पढ़ा होता है तो दूसरों को सुनाने के लिए बुलाते हैं और घंटा दो घंटा या तो समाचारों की जुगाली करने में या गप्पें उड़ाने में बिताते हैं। आज़ अयूब ने ऊँची आवाज़ में दोनों को बुलाया। आवाज़ में अविश्वास और आश्चर्य साफ सुनाई दे रहा था। आज शायद अखबार जल्दी आया था। कर्फ्यू में हॉकर को 'पास' दिए गए थे और वे अतिरिक्त कमीशन लेकर स्थानीय–समाचार पत्र गलियों घरों में दे जाते थे। छः दिनो से पूरा श्रीनगर ठप था। दफ्तर बंद थे, बाजार बंद थे। अयूब प्राइवेट मेकैनिक था, अशरफ और खुरशीद ऊंचे सरकारी अफसर। बाहरी दुनिया से जुड़ने का एक ही साधन था रेडियो या टी॰वी॰, पर यह साधन समाचारों का सरकारी 'दर्शन' देता, जिसे अधूरा और कम विश्वसनीय माना जाता था। उर्दू दैनिकों में 'मिलिटेंटों' के कारनामों के विवरण भरे होते थे, जो वस्तुतः

उनकी जमातों की प्रेस–विज्ञप्तियों पर आधारित होते थे। इन विवरणों को तेज़ भाषा में और सुर्खियां बनाकर देने में 'आफ़ताब' और 'अलसफ़ा' के बीच होड़ लगी थी। हमारी नई कॉलोनी के इस अंतिम छोर तक अख़बार ले आने के लिए हॉकर को ज्यादा कमीशन के रूप में तिगुनी कीमत देनी पड़ती थी। शायद इसी कारण हमारे पड़ोसी पिछले आठ दिनों से एक ही अखबार मंगवा कर अप्रैल की मीठी धूप में खुले में बैठकर पढ़ते। साथ ही बातें होतीं, और कर्फ्यू का भारी वक्त कटता। छः दिनो से मैं और पत्नी राज़ अपने ताला लगे बंद मकान में पड़े शीशों से और दरारों से यह सब देख–सुनकर कभी जी उठते तो कभी मर जाते। बाहर पत्ता भी ज़ोर से हिलता या कोई भूला–भटका इधर आने लगता तो हमारी खामोशी दहल जाती। उसकी पदचाप दूर से सुनाई दूती और हम चौकन्ने होकर स्थिति समझने की कोशिश करते, अपने अनुमान लगाते और अपने लिए नतीजों का विश्लेषण करते आज के 'अलसफ़ा' में ऐसा क्या समाचार होगा कि जिसने हमारे इन सुशान्त, सुसभ्य पड़ोसियों को बेसब्रा बना दिया, लगता था कुछ–कुछ विचलित भी किया, यह हमें अगले दिन ही मालूम हो सका, जब हमारी सुबह साठ मील दूर काज़ीमुंड के बाज़ार में हुई और मैंने मिन्नतें करके अपना ट्रक रुकवाया। कूदकर एक मिनट में अखबार की खुल रही दुकान से दो प्रतियां लीं, आज के आज की और कल के आज की। अभी तो पड़ोसियों की जितनी बातें सुनाई दीं उन से इतना ही समझ में आया कि किसी को किसी 'मुजाहिद' ने 'अल्टीमेटम' दिया है, और इससे मुजाहिदों की यह जंग 'फ़ैसलाकुन मरहले में' प्रवेश कर सकती है।

अप्रैल 3, 1990, दिल्ली

भाषा किस तरह किसी समाज की सोच और जीने की प्रवत्ति को प्रभावित करती है, इसका सब से सटीक उदाहरण हमारे तथाकथित "नैशनल" अख़बार हैं। (जो दिल्ली से निकलते हैं और अंग्रेज़ी के हैं। हिंदी के अधिकांश समाचार–पत्र अंग्रेज़ी के ही समाचारों को अनूदित करके देते हैं।) उधर कश्मीर धर्मांध आतंवाद के कुंभीपाक में धू–धू कर जल रहा था और इधर दिल्ली में हमारे ये हितैषी इस सब की तीव्रता को यथासंभव कम करके इसे कुछ भटके नौजवानों के आर्थिक मोहभंग का परिणाम बताकर भारतीय जनमानस को 'अनपेक्षित आघात' से 'बचा रहे थे'। दिल्ली के इन 'सावनी अंधों' की मुहावरा–जड़ी शिष्ट भाषा में डूबे हम भी कश्मीर की वस्तुस्थिति से अपरिचित रहते यदि जम्मू से हमारा संपर्क ताज़ा नहीं बना रहता, जम्मू आकर वहीं शरणार्थी शिवरों में ढल जाते या जम्मू से आगे–बढ़ते, रिश्तेदारों के पास जाते, भगोड़े पंडितों' * के कारवा से हमारा प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क बना नहीं रहता। हमने सुना कि हमारे खाली हुए मकानों में लूट मची है या उन्हें जलाया जा रहा है। शायद उन इक्का–दुक्का लोगों को भयभीत करने के लिए जो अभी भी शहरों या गांवों के किसी मुहल्ले में रह रहें हैं। हम जब आए थे तो कुछ गर्म कपड़े पहन कर और कुछेक अटैची में साथ ले के। हर वर्ष की तरह पहली जनवरी को सर्दियों की छुट्टियों के पहले ही दिन चले थे कि दो महीने के अवकाश का हर क्षण अकेले रह रहे लड़के के साथ बिताएं। गरमियां तप रहीं थीं और लग नहीं रहा था कि अभी कश्मीर लौटना होगा। कोई किताब कापी भी नहीं साथ उठा लाया था मैं। यहां बैठा–बैठा कैसे कब तक झख मारता रहूँ। राज को चिंता थी कि घर पचास तरह की चीजों से भरा है और यहां किराए के कमरे में अकेले लड़के का घर कितना खाली–खाली है। मुझे भी चिंता थी कि ऐसा ही रहा तो हमारी पहचान के कुछ सबूत जो कुछ सरकारी कागज़ों और कुछ सर्टिफिकेटों पर निर्भर हैं, सदा के लिए खो जाएंगे। मैं जो किसी सरकारी कालेज में पढ़ा रहा था और राज जो 'औकाफ़ ट्रस्ट' की लोकप्रिय 'उस्तानी' रही, यह सब परदेस में कैसे साबित कर सकेंगे। नौकरी के अलावा हम कोई और हुनर तो

जानते नहीं। मैं अभी 51 वर्ष का हूँ, वहां से पूरा उखड़ जाएंगे तो क्या पता कहां–कहां भटकना होगा, कितने दिन और कैसे गुज़ारा करना होगा। सो तय हुआ कि हम वापिस जाकर, घर देख आएंगे। रात को ही जम्मू के लिए रवाना हुए। वहां घर के शेष सदस्य एक साथ रह रहे थे। वे १६ जनवरी '६० की उस भयानक रात को नई सडक बडियारवाला के हमारे पुराने मकान को छोड़ भागने पर विवश हो गए थे, जब अचानक रात के ग्यारह बजे, शहर की तमाम मस्जिदों में एक साथ लाउडस्पीकर गूँज उठे थे और लाखों लोग सड़कों पर निकले थे, रातों रात कश्मीर को भारत से अलग कराने के लिए .... ।

अप्रैल 6, 1990 श्रीनगर

हुलिया यथासंभव बदलकर (स्त्रियां दुपट्टे से माथा, नाक, मुंह ढककर) हम जम्मू से बस में चले तो रास्ते में ही सुना कि कश्मीर युनिवर्सिटी के वाइस चाँसलर मुशीरूल हसन दो अधिकारियों समेत अग़वा कर लिए गए हैं। बाद में उनकी हत्या कर दी गई। पूरी घाटी पर कर्फ्यू लगा दिया गया था। सड़कें, बाजार, गालियाँ सब सूनी, केवल जगह–जगह सुरक्षाकर्मी तलाशी लेते हुए। जम्मू से आने वाली बसों को टूरिस्ट सेंटर तक जाने दिया जाता। वहां से यात्रियों को घर–मुहल्ले तक ले जाने के तात्कालिक सामूहिक प्रबंध के लिए कुछेक सरकारी बसें तथा ट्रक चलाए जा रहे थे। मैं और राज सेंटर से आधा किलोमीटर पहले इंदिरानगर में उतरे। पिता जी दो छोटी बहुओं जनक तथा काकी के साथ ट्रक से घर के करीब छोड़ दिए गए। उस दिन से 11 अप्रैल तक उनसे हमारा तक उनसे हमारा सम्पर्क टूटा रहा। कर्फ़्यू में तेरह दिन तक कोई ढील नहीं दी गई। सातवें दिन, १२ अप्रैल को निहालचंद के आने से बिछुड़े लोगों के बीच संपर्क टूटा रहा। कर्फ़्यू में तेरह दिन तक कोई ढ़ील नहीं दी गई। सातवें दिन, १२ अप्रैल को निहालचंद के आने से बिछुड़े लोगों के बीच संपर्क बना आर ज़िंदगी की संभावना फिर जगी।

अप्रैल 7, 1990, श्रीनगर

कर्फ़्यू ग्रस्त इंदिरानगर घने शहर के कर्फ्यूग्रस्त इलाकों से उतना ही भिन्न और उन इलाकों की अपेक्षा ज़्यादा मुक्ति की साँस ले रहा था जितना कोई भी उपनगर या कॉलोनी पुराने नगर की अपेक्षा भिन्न और मुक्त होती है। अप्रैल के दिन इंदिरानगर पर बस से उतरकर जब हम गली में घुसे थे तो अपने घर नहीं गए, क्योंकि घर की चाबियाँ निहालचंद के पास थीं और वह कई दिनों से गायब था। यह हमें गली के पहले मोड़ पर स्थित अशोक हंडू के घरवालों से ज्ञात हुआ। हम रात बिताने के लिए सीधे उन के यहां चले गए। निहाल के इंतजार में हमने दो रात और दिन वहीं बिताए, पर यों कि कोई जान न पाए। निहाल का घर किश्तवाड़ में था और वह नाम बदलकर श्रीनगर में किसी बिजली की दुकान में मैकेनिक का काम करता था। मिलनसार और हँसमुख स्वभाव के कारण कुछ दिनों में ही हम से हिलमिल गया था और हमने रहने के लिए उसे एक कमरा दे रखा था। मेरे कालेज के ३१ दिसंबर, १९८९ को सर्दी की छुट्टियों के लिए बंद होने पर मैं और मेरी पत्नी राज एक जनवरी को सीधे दिल्ली चले गए, जैसे हर वर्ष जाया करते थे। तब से घर निहाल की देखरेख में पड़ा रहा था। अगले तीन महीनों में कश्मीर को तेज़ी से अराजकता में झोंक दिया गया और एक के बाद एक हृदय विदार घटनाएँ हुईं, जिनमें जम्मू भागे लोगों में से किसी के लौट आने पर उसकी नृशंस हत्या भी थी। हम किसी ऐसी दुर्घटना का शिकार नहीं होना चाहते थे, अतैव घर के पास आकर भी दूर थे। हम भूले नहीं थ कि अपने पड़ोसियों के साथ हमारे संबंध ठीक थे और हम यह भी जानते थे कि किस तरह आतंकवादी आक्रमण के समय पड़ोसी असहाय होकर अपने अपने घरों में दुबके पड़े रहते हैं। हमने हंडू महोदय से सुना कि निहाल सूखने के लिए कपड़े बालकनी पर फैला कर कई–कई दिन गायब रहता है। खुद किसी दफतरी मजबूरी के कारण अभी घर में ही टिके थे हालांकि उन्होंने अपने बुज़ुर्ग माता–पिता और बच्चों को जम्मू भिजवा दिया था। खैर अगली शाम निहाल आ गया। उसी शाम हम अंधेरे में, जब लोग 'इफ़्तार' कर के सो चुके थे, चोरों की तरह अपने घर में प्रविष्ट हुए, पिछले दरवाज़े से कि बाहरी गेट पूर्ववत बंद रहे। घर में नमक, तेल, चावल, आटा सब रखा था,

अगले चार दिन के लिए ही नहीं, चार महीने के लिए पर्याप्त। अपने घर में, अपनी दीवारों के बीच, अपनी खिड़कियों पर परदे फैलाकर हम कई दिन पड़े रहे। अपने लिए इस प्रकार की क़ैद स्वीकार करके। हम टी॰वी॰ की रोशनी में केवल उसकी मद्धिम आवाज़ में समाचार सुनकर दिन–भर पड़े रहते कि शाम तक निहाल कोई ऐसा समाचार लाएगा जो पिता जी से संबंधित हो। पड़ोसियों के लिए वह हमेशा की तरह सुबह घर बंद करके निकलता और शाम को लौटता। उन्होंने भी उसे महत्त्वहीन समझकर छोड़ दिया था।

निहाल हमारे लिए महत्वपूर्ण था। बाहरी दुनिया से वही हमारा केवल संबंध–सूत्र था। उसने जाने कैसे अखबार के किसी हॉकर मित्र से कर्फ्यू पास लिया और साइकिल पर हमारे पुराने घर जाकर पिताजी से मिला। उनकी हालत हम से कद्र बेहतर थी। पुराने शहर में सटे हुए आंगनों–गलियों से होते हुए कहीं भी आया–जाया जा सकता था। निहारते ही काकी के मैके वालों से सम्पर्क स्थापित करने में पिता जी की मदद की तथा उन सब के निकल भागने का इंतजाम भी किया। वे तथा उनके पड़ोस के कुछ बचे–खुचे परिवार किसी बाहरी व्यापारी के जम्मू लौटते ट्रक को किराए पर लेने में सफल हुए थे, जिससे अगली रात अंधेरे में ही भागने का उनका कार्यक्रम पक्का करके निहाल हमारे पास लौट आया। घर छोड़कर भागने वालों के लिए कर्फ्यू सुरक्षा की गारंटी था। सुबह–सवेरे रोज़ेदारों के मस्जिद जाकर नमाज़ पढ़ने को सुगम बनाने के लिए कर्फ्यू में घंटे–भर की ढील दी जाती थी। इसी दौरान शहर के विभिन्न मुहल्लों से ट्रक, टैक्सी, मैटाडोर, पलायन–कर्ताओं को लाद कर जम्मू की ओर चल पड़ते।

अप्रैल 11, 1990, श्रीनगर

''अल्ला हो अकबर!!'' (ईश्वर महान है।)

सुबह पौने चार बजे, माहे रमजान की अज़ान आस्तिकों को मस्जिद में इकट्ठे होकर नमाज़ पढ़ने के लिए बुलाती है। एक अज़ान नहीं, कई

मस्जिदों से तेज या धीमी आवाज़ में आने वाली अज़ानें सब सुनाई देती हैं। कर्फ़्यू की सन्नाटा–ग्रस्त रात का पिछला पहर, जबकि अभी गाढ़ा अंधेरा है और हम कुछ देर और सोए रह सकते थे। यों तो हमारे लिए रात क्या और दिन क्या। दिन में भी परदे पड़े रहते हैं, धूप छानते कांचों पर। अज़ान की आवाज़ से हम सुपरिचित हैं और सामान्यता जरा भी विचलित नहीं होते, यदि नमाज़ खत्म होने के तुरंत बाद भोंपू नहीं गरजते और अलगाववादी राजनीतिक नारों धमकियों और चेतावनियों से हम पंडितों को झिंझोड नहीं दिया जाता। धमकी एकदम नई नहीं थी इसलिए हम अपना समय लेते हुए दूसरे विकल्प के लिए क्रियाशील थे। और उस सबका दारोमदार निहालचंद पर था, जो औरों के लिए भले ही नगण्य था, हमारी तो जीवनरेखा था।

कुछ ही दिनों में हमारा दिन, हमारी दिनचर्या, खाना–पीना, टी. वीं से कान सटाकर समाचार सुनना और आगे की 'रणनीति' पर अपनी राय देना सब सामान्य हो गया था। हमारे आपसी झगड़े भी सामान्य थे, केवल उनका वस्तुगत यथार्थ भिन्न था। हमारे मतभेद बढ़ गए थे क्योंकि हम दो में से कोई भी अपनी इस आत्मपीड़क स्थिति के लिए ज़िम्मेवारी ले नहीं रहा था और न ही कोई खिड़की खोलकर अपनी अचानक उपस्थिति घोषित करके कोई अवांछित परिणाम भुगतने का जोखिम लेने के पक्ष में था। कारण यह भी था कि इस बीच कई ऐसी ख़बरें सुनी थीं, जिनके अनुसार कई जाने–माने व्यक्तियों की हत्याएँ की गई थीं। हमारे लिए ज़्यादा चिंताजनक यह था कि जम्मू–दिल्ली से नौकरी या घर की देखभाल के लिए लौट रहे लोगों में से क़ई की अकारण हत्या हुइ थी। अर्धराजनैतिक नेताओं टपलू तथा प्रेमनाथ भट्ट, जज नीलकंठ गंजू, प्रौफेसर गंजू तथा रैना, नर्स सरला भट्ट, मुख्याध्यापिका मोहनी आदि की हाल में ही की गई निर्मम हत्याएँ हमारी स्मृति में थीं और उस पर मस्जिदों से आने वाले नारे कर्फ़्यू के सन्नाटे को चीरते हुए हमारे मन–मस्तिष्क को भेद रहे थे।

हम जानते थे कि हमारे पड़ोसी सामूहिक सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न

अंग थे। तीन महीने पहले, पहली जनवरी को जब हम मियां–बीवी सदा की भान्ति सर्दियों की दो महीने की छुट्टियां लड़के के पास दिल्ली में बिताने केवल कुछ कपड़े तथा किताबें लेकर घर से चले थे, तो हमारे पड़ोस की 'अम्मां जी' (ज़ीनत दादी) आंचल–भर अखरोट बादाम, सूखी सब्जियों के गुच्छे और कश्मीरी मोठ राज को देकर बोली थीं – ''कैसे जी पाती है तू अपने एक ही लड़के के बगैर यहां? जाओ, अब की वहीं रह लेना, उसके पास। अरे ख़सम को वापिस भेज देना। यह क्या यहां अकेला नहीं रह सकता?'' और उसके बड़े बेटे अयूब ने जनवरी की उस कड़ाके की सर्दी वाली सुबह अपनी गाड़ी निकाल कर हमारे गेट पर खड़ी की कि हमें बस अड्डे तक छोड़ आए। कई जगह गाड़ी से उतरकर बर्फ से रूँधा रास्ता, साथ लाए बेलचे से साफ किया, तभी गाड़ी आगे बढ़ पाई थी। एक और पड़ोसिन अम्मां घर में पाली मुर्गी के देसी अंडे पोते–पोतियों से छिपाकर राज के सामने डाल जाती – ''लो ये इन्हें खिलाओ। इन से सही ताकत मिलेगी और सात दिनों में चलता–फिरता नज़र आएगा''.... तब मैं छः महीने से रीढ़ की हड्डी सरक जाने से बिस्तर पर पड़ा रहा था...... .. ऐसी कितनी सुखद यादें जिन पड़ोसियों से जुड़ी थीं उन ही से अब डर के हम अपने अंधेरे कमरों में पड़े–पड़े दिन–घंटे–मिनट गिन रहे थे। असहाय स्थिति में हमारा समय किसी आकस्मिक पर संभव दुर्घटना के साए में कैसे कट रहा था, इस बारे में हम सचेत थे, यही मन मसोस कर देने वाली बात थी। मुहल्ले के बच्चे पहले की ही तरह निश्शंक होकर हमारे लॉन में बैडमिंटन खेलते या हमारे आंगन के कबाड़ कोठे में पड़े पुराने लटठे तखत पेटियों–बक्सों के टूटे फट्टे निकाल कर उनकी 'नाब' बनाते और हमारे आंगन की दीवार से लगी उथली झील में डाल कर 'सैर' करने निकल जाते। हम यह सब देखते रहते पर यह देखते हुए हमें कोई देख नहीं रहा था। धूम–मचाते बच्चों के निश्चित वार्तालाप सुनते हमारा भी समय कट जाता था। उनकी बातों से आई 'मुजाहिदों' की सफलताओं'' की खबरों का आदान–प्रदान तथा बखान होता था। बच्चों के चले जाने के बाद हम फिर अपने त्रस्त मौन में लौट जाते। उन्हीं दिनों जे. के. एल. के एक अग्रणी 'मिलिटेंट' ('आतंकवादी' या 'उग्रवादी' कहलाना उन्हें

नागवार था। सरकारी रेडियो टी. वी. के समाचार उद्घोषकों ने जिंदगी के लाले पड़ते देख उन्हें 'मिलिटेंट' कहना शरू किया था) को पकड़ा गया। उसने अपने बयान में निर्भय होकर कहा कि उसने "50–60" पंडित लोगों को गोली का निशाना बनाया। वह इनमें से किसी को जानता नहीं था।"

शाम को निहाल आया, यह संदेश लेकर कि घाटी में भेड़–बकरी के ट्रक भर कर लाने वाले एक सरदार से उसकी बात हुई है। दो–तीन दिन के अंदर वह अगली खेप लेकर आएगा। यदि खाली लौटेना होगा तो हमें भी ले चलेगा। हम किसी भी रात चले जाने के लिए तैयार रहें।

कश्मीर विश्वविद्यालय के उपकुलपति मुशीरूलहसन की अपहर्ताओं ने हत्या कर दी और उसकी लाश दूर कहीं फेंक दी। प्रशासन ने हफ्तों लगे कर्फ्यू में घंटे दो घंटे की जो ढील देना शुरू की थी, वह तुरंत बंद कर दी गई। हमने कुछ ज़रूरी कागज़ात और दिल्ली की गर्मियों में उपयोगी कुछ कपड़े एक अटैची में बंद कर रखे कि किसी भी रात दूर खड़े ट्रक की आवाज़ सुनते ही भाग खड़े होने की स्थिति में रहें। पर

धर्म संकट था कि अब जो जाना है, पता नहीं फिर लौट के आना होगा कि नहीं, ऐसे में पास–पड़ोस वालों से कैसे मिलें जिससे इन्हे हमारे यहां आकर कुछ दिनों से रहने का ज़रा भी आभास न हो और न हमारे यहां से चले जाने की भनक ही किसी का मिले। उस शाम जो खबर निहाल लाया वह सुनकर हम कांप उठे।

आंतकवाद के प्रथम सशक्त विस्फोट के दिन थे। किसी मुहल्ले में कौन आता है, कौन भाग के चला जाता है, इसकी खबर रातों–रात जेहादियों की स्थानीय इकाई में पहुँच जाया करती थी। उसी गति से 'फैसला' लिया जाता, जो लड़कों के जुनून पर आधारित होता और जिसे तुरंत कार्यान्वित किया जाता। अगले दिन अखबार में एक नए नाम वाला गुट हत्या की जिम्मेवारी 'कुबूल करता' और साथ ही हताहत हुए व्यक्तियों के अपराध की अपने ढंग से व्याख्या करता। मारा गया व्यक्ति या तो 'मुखबिर' होता या उग्रवादियों से 'असहमति' पर डटे रहने की 'हठधर्मी का दोषी'।

परिणामतः अख़बारों में नित नए बयान छपते जिनमें जाने–माने राजनीतिक कार्यकर्ता एलान करते कि 'हमारा किसी सियासी पार्टी से कोई रिश्ता नहीं'। जम्मू से श्रीनगर तनख्वाह लेने आए कर्मचारी या

आधीन कर्मचारियों की तनख्वाह वितरित करने आए अफसर–नीम अफसर लोगों पर विशेष नज़र रखी जाती कि ये 'किसी सरकारी एजेंसी' के भेजे हुए तो नहीं, जो इस 'आंदोलन' को तोड़ते आए हैं। कितने निर्दोष लोगों को बहाने से मारा गया। उद्देश्य था कि कोई वापिस आकर पूर्ववत रहने की जुर्रत न करे। (शायद) अधिकांश कश्मीरी जन इस अप्रत्याशित संभावना के स्वरूप से अनभिज्ञ थे। अल्पसंख्यकों को भी, इसलिए लग रहा था कि भाईचारे का सच काफ़ी दृढ़ है, अस्थाई प्रतिहिंसा उसे नुक्सान पहुँचा सकती है, उसका उन्मूलन नहीं कर सकती।

अप्रैल 13, 1998 की शाम, श्रीनगर

निहालचंद हमारे लिए दो नई सूचनाएँ लाया। एक यह कि हमारे मुहल्लेदार श्री हंडू की पत्नी, भाभी और बच्चे हमारे साथ ट्रक में निकल भागना चाहते हैं और वे किसी भी समय चल सकते हैं। हम हैरान थे कि वे तीन महीने यहीं डटे रहे थे और गत 6 अप्रैल को जब हम उनके यहां छिपे बैठे रहे थे, तो उन्होंने स्थिति को गंभीर बताने के बावजूद इतनी जल्दी चल निकलने के बारे में जरा–सा संकेत भी नहीं दिया था। परन्तु दूसरी सूचना भायनक थी। निहाल भीतर गली की एक सर्वसुलभ दुकान से हमेशा की तरह कुछ सौदा बगैरा लेने गया तो वहां जमा कुछ जाने और कुछ अनजाने लड़कों ने उससे जानकारी लेने की कोशिश की थी। यह कि हमारी गली में से कौन 'पंडित' अभी घर में ही रह रहा है और कौन छोड़कर जम्मू चला गया है। निहाल ने हमारी वस्तुस्थिति उन्हें बताई नहीं पर संदेह एक बार मन में घुस जाता है, तो पहले से ही जो डरा हुआ हो, उसके लिए आशंकाएँ संभावनाओं में परिवर्तित होते देर नहीं लगती। दुकानदार को हमारे चले जाने की सूचना पहले से ही थी, और निहाल पूरे मुहल्ले में, अपनी मिलनसारिता तथा सहायक स्वभाव के कारण पहचाना जाता था इसलिए उसके लड़कों को दिए हुए उत्तर सामान्यतः विश्वसनीय

माने जाने थे। पर, यह सब सुनकर खतरे की घंटी हमारे दिमाग में बजने लगी और हम ट्रक का इंतज़ार करने लगे।

अप्रैल 14, 1990 की शाम, श्रीनगर

मस्जिद से 'इफ़तार' की अज़ान सुनाई दी। लोग पहले से ही घरों में बैठे थे। योजना के अनुसार हम पिछले दरवाज़े से छिपते–छिपाते निकले और अतिनाटकीय ताम–झाम के साथ अगले गेट का ताला खोलने लगे। कुछ ज़्यादा ही 'सामान्य' दिखते हुए मैंने अयूब को आवाज़ दी और राज सीधे 'अम्मां जी' के आंगन में प्रविष्ट हुई। अयूब की पत्नी को बुलाया और उन्हें 'सूचित' किया कि 'हम आ गए हैं'। गेट खोलकर मैंने अपने आंगन, पोर्च तथा लॉन की बत्तियां जलाई। थोड़ी देर में हमारे पड़ोसी, मिलने चले आए और हम ने कमरे खोलकर लोगों को बिठाया। जैसे सब कुछ सामान्य था और हम अभी–अभी आए थे। इन लोगों ने आठ दन से चल रहे अकारण कर्फ्यू से पैदा कठिनाइयों के विवरण दिए और हम ने अपने अचानक आने का कारण बताया। हमारे, मामा की 'अचानक मृत्यु' के कारण हमको आना पड़ा था। हम कल आए तो पहले उनके यहां गए। इस घटना के कारण हमें वहां सीधे जाने दिया गया। आज किसी से कर्फ्यू का पास लेकर हम यहां आए हैं। पर कल अलल सुबह वापिस जाना होगा क्योंकि जम्मू में मेरी दादी काफी बीमार हैं और बड़ा लड़का होने के कारण पिता जी ने मुझे फौरन जम्मू लौट आने को कहा है। ज्यादा बहस नहीं करके, वस्तुतः मौन स्वीकृति देकर हमें जाने की ही राय दी जा रही थी। राजनीति, 'मुजाहिद' 'आज़ादी', कर्फ्यू जैसे विषय, जिन पर ये लोग आपस में रोज़ बहसें किया करते और हम गत छः दिनों से इसी घर के बंद कमरों में छिपे बैठे सुना करते थे, इस समय ऐसा कोई विषय छेड़ा नहीं गया केवल था तो सरोकार और थी तो चिन्ता। उनकी स्पष्ट, यद्यपि अप्रकट चिन्ता थी कि हम कैसे भी, बहाने यहां से निकल जायें। पर साथ ही वे उन कुछ पंडितों के 'निश्चित सुखी जीवन' का ज़िक्र करके हमारा ' भ्रम' दूर करने की कोशिश भी करते रहे, जो भागे नहीं थे। मन ही मन हम यह भी भूल नहीं रहे थे कि पड़ोसियों के आश्वासन के बावजूद कितने निर्दोष लोग आतंक का निशाना बने थे और बनते जा रहे थे, पर हम जो ज़ाहिर

कर रहे थे वह हमारा नकली रूप था– विचलित तथा भयभीत नहीं होने का रूप। हमारे वार्तालाप का कृत्रिम (और अतः निरापद) भाग ऊँचे स्वर में (कि घरों के गिर्द घूमते टोही भी सुनें) तथा प्राकृमिक भाग धीमे स्वर में था, यह मैं अगले दिन सफर करते हुए वार वार स्मरण करता रहा।

रात को जो और खबरें आई तथा जितनी बातें पड़ोसियों से हुई सबके आधार पर हमने समय लिया कि घर छोड़ कर भाग रहे पंडितों का न कोई संगठन प्रेरित कर रहा है और न भागने से रोक रहा है। हर पलायनकर्ता अपना व्यक्तिगत निर्णय अपने भाई–बंधु से छिपा कर ले रहा है। उसे विश्वास नहीं कि उसकी बात उसके सगे–संबंधी किस हद तक सुरक्षित रख सकते हैं। वह खुद पर छाई भय की आँधी के ज़ोर का अंदाज़ा खुद करता है और अपने पलायन का रास्ता खुद निकालता है। भागने समय न उसके पड़ोसी उसे रोकते हैं क्योंकि उन्हें "खुद पर विश्वास नहीं" और न कर्फ्यू ड्यूटी पर तायनात पुलिस कर्मी, क्योंकि यह "उनके कर्त्तव्य तथा आदेशों" में शामिल नहीं। रात को निहाल ने आकर बताया कि रात के ठीक एक बजे हमें निकलना होगा जिससे हम सुबह रोशनी होने से पहले 'जवाहिर टनल' को पार कर सकें यह भी कि दो दिन पहले तीन ऐसे ट्रकों पर आतंकवादी हमला भी हुआ था हमने मकान को आखिर बार देखा। जाते हुए मेरे हाथ में एक अटैची थी और राज के

कंधे पर एक बैग था। निहाल और कुछ साथ उठा ले जाने की ज़िद करने लगा तो मैंने उसे समझाया– फिर कभी मौका मिल जाए तो तुम जो चाहे उठा ले चलना। पर वह जानता था कि कल सुबह जब हमारे चले जाने की बात फैल जाएगी, उसके बाद वह लौट कर इस मकान में आ नहीं सकेगा और न ही हम आ पाएंगे।

हम जब ट्रक में बैटे तो देखा कि हमारे पड़ोसी हंडू परिवार वाले गुमसुम और नाक पर रुमाल रखे पहले से ही बैठे हैं। ट्रक में भेड़–बकरियों के मलमूत्र की तेज़ बदबू भरी हुई थी। ड्राइवर सरदार जी बोले–"फिक्कर नहीं करो। सिर्फ दो तीन घंटे रहेगी। फिर तिरपाल हटाएंगे, खुली हवा आऐगी और बदबू–शदबू सब भूल जाएंगे।"

डायरी

-श्याम बिहारी

आकाश नीला अवसाद
धूप तेजाब
कोई कहे
कौन सा शब्द है
मेरे काम का
जिसे मैं छाते सा तान लूं

निष्कासित !
भगौड़े !
शरणार्थी !
विस्थापित !

ओ ! प्रश्नवाचक खुखरियो

हादसों के इस हजूम को

क्या नाम दूं?

अरी ! कुछ तो कहो

* * *

आसमान साफ है और धूप चमकदार।
अभी–अभी मधुमक्खियों का एक झुंड विस्थापित हुआ
है। उनके क्रोध की आवृति नापने का कोई यंत्र नहीं
मेरे पास। होता भी तो टूट चुका होता। पर इतना तय
है कि इस समय, कोई भी उनकी जद में आए तो
बचेगा नहीं ! मधु मक्खियां हैं........ कश्मीर से
निष्कासित हिंदू नहीं !

* * *

लेबर कमिश्नर के दफ्तर की हाज़री लगाते हुए आज यह चौथा दिन। पांच रु के नागा फार्म के लिए मेरा सौ रु का पेट्रोल फुंकवा दिया। उपर से रिश्वत भी। मैडम के पैर भारी हैं। हैरान हूं रिश्वत के पैसे से यह अपने बच्चे को कैसे पालेगी? और बड़ा होकर वह बच्चा क्या बनेगा? सरकारी नौकरी करते हुए भी इन्हें पूरी नहीं पड़ेगी।

***

कैसा एकाधिकार है सरकार नाम के इस आक्टोपस का। हर मामले में इनकी टांग। रोज़गार देने के नाम पर इनकी मां मरती है। बेशुमार सफेद हाथी पालेंगे, पर लोगों को सही ढंग से काम नहीं करने देंगे। कानूनों और विभागों का इतना इतना मकड़जाल ! यह सरकारें, क्या हफ्ताखोर मवालियों से कम हैं?.... कम से कम उनकी शकलें तो दिखती हैं। इनकी तो शकल भी नहीं दिखती।

अब कोई प्रोटेस्ट करे भी... तो क्या पूरी जिंदगी प्रोटेस्ट करने में ही बिता देनी होगी? और लोकतांत्रि प्रोटेस्ट की सुनवायी ही कहां है? इनकी तो समझ में बंदूक और आतंक की भाषा आती है.... और वह भाषा... कम से कम कश्मीरी हिंदू तो उसका क ख ग भी नहीं जानता।

***

न्याय की देवी... आंखों पर काली पट्टी ... ढोंग ! पट्टी किसलिए? तुम तो हो ही जन्मांध... किताबें पढ़ पढ़ के विचारे जजों वकीलों की आंखें तो वैसे ही जा चुकी होती हैं। बहुत पहले संतोषी ने एक पंक्ति सुनायी थी।?

'अंधापन इस देश में कोई रोग नहीं एक दर्शन है।'

अग्निशेखर की कविताएं सुनी। चौंतीस

कविताएं जैसे चौंतीस शिखर। बीच में सतीसर। कथा के विकास में अंतराल कुछ बड़े लगे, लेकिन, अच्छी बनी हैं।

***

किस स्वप्नलोक में जीते हो श्याम? यह प्रजातंत्र तेरे लिए नहीं है भाई। यह तो सिर्फ उनके लिए हैं जिन्होने इस देश और इस लोकतन्त्र को छल–बल से हथिया लिया है, बंदूक और कट्टरता के आतंक में बंधक बना दिया है। हम तो बस रियासत और दिल्ली की सियासत की बिसात की बेजान गोटियां हैं। अब तो हमारा मताधिकार भी निरस्त। कहते हैं डाक के जरिए वोट डालो। वह भी ऐसे क्षेत्र से प्रतिनिधि चुनने के लिए, जहां से हमें दूध में से मक्खी की तरह निकाल फेंका गया है?

दिन बीत रहे हैं.. समय की क्रूरता के
सामने हम निहत्थे बेबस.. निरूपाय...

***

कितनी लम्बी और उदास है यह रात...
यह कोहरे में घुला अंधेरा इतना घना कि
पौ का फटना.. सूर्य का उगना
स्थगित है ... बरसों से...

समय के पन्नों में फटे
सदियों लम्बें ये वर्ष..
सिर्फ उम्र ही तो नही होते
कैसे काट डालूं

अपने जिस्म के इतिहास से
ये पिछले कई बरस

तुम बारूद के ढेर में जन्नत के दलाल
और तुम शेरों के मुखौटे में दुबके श्रृगाल...
मुझे बताए कोई.. किसके खाते में रखूं
अपनी उम्र के ये पन्ने... ये पिछले कई बरस

***

इच्छा करना भी तो एक कला
है। शायद यही एक मात्र मौलिक कला है। अंततोगत्वा हम वही हो पाते हैं जिसकी हमने मांग की होती है। गुरूवाणी की यह पंक्ति– जो मांगे ठाकर अपने से

सोई सोई देवे...

कश्मीर से हमारा निकलना भी शायद कहीं न कहीं भीतर हमारी अचेतन मांग रही होगी...

***

क्या कहानी केवल बाहर होती है? बाहर तो जीवन है जिसकी खंड–खंड छाया, प्रतीकों और शब्दों में हम अपने भीतर समेटते रहते हैं। लेकिन यह जो छवियों की एक दुनिया हमारे भीतर धड़कती है, एक दूजे से भिड़ती है, प्यार करती है, उलाहने देती है, बीते को याद करती है, क्या इसमें कोई कहानी नही होती?

दिन रात मुझे एक कहानी की तलाश है
और यह है कि मुझी में बसी, मुझी से लुका–छिपी खेले जा रही है। मेरी व्यथाओ मेरी कहीनी की

पात्र बनो। ओ ! मेरे स्वप्नो मेरे कथानक बुनो।

***

बिजली जाने की बारी, आज हमारी। साढ़े आठ तक आएगी। सांझ ढल चुकी है। मंदिर का बल्ब फ्यूज़ हो चुका है। नवरात्रें के दिन और मंदिर में अंधेरा। सारी दुनिया इन दिनों दीप जला कर रख्ती है, पूजा व्रत करती है, उत्सव मनाती है और यह मेरा घर ! लगता है अपनी जड़ां से कट गया हूं। मुझे लगता है धीरे-धीरे हिंदू होना ही मुझसे छूटता जा रहा है। चलो यह गोली भी रायसाहब के सीने में... यह कटना और छूटना भी विस्थापन के नाम..

पिता कहा करते थे मनो-इच्छा सर्वनास्ति देवेच्छा प्रबलतरा।

कुछ देर के लिए मन खाली हो गया है। पंखे की घूं-घूं में साँय-साँय की आवाज। एक ही पल मे कितना कुछ घट रहा होता है। पता नही इसी पल में कितने बच्चों ने जन्म लिया होगा, कितने बूढ़े विदा ले रहे होंगे।

***

नवरात्रें की अष्टमी... विस्थापन के पहले या बाद में, पहली ऐसी जो बिना व्रत (व्रत का ढोंग) किए निकल गई। मुझ जैसे बाप भी कितने होंगे दुनिया में जो अपने बच्चों को परंपरागत संस्कार भी नही दे पाते... बड़े से जब कहा अष्टमी थी मनानी चाहिए थी, तो पलटकर जवाब मिला, यह आपका काम था हमें क्या पता?

काश ! कोई बहू आए इस घर में जो सब
कुछ संभाल ले, सब कुछ व्यवस्थित कर दे।

***

हर साल रामनवमी के बाद आता है दशहरा
रावण का तो कुछ नहीं बिगड़ता
राम की जेब कट जाती है
वनवास कुछ और बड़ जाता है।

***

योग निद्रा की मुद्रा में प्रधानमंत्री ! उनका
कार्यालय जैसे कुण्डली जमाए, सहस्त्र फण फैलाए
शेषनाग.. बिना कृपा पत्र के फटक नही सकता
कोई पास.. मेरी क्या बिसात ! बैकुंठ में प्रवेश का
अनुमति पत्र कहां से लाऊं और क्यों? तेरह सदी
पहले कह गया बाई जुई "जिसे बजा कर कोई भी
अपने लिए इंसाफ की मांग कर सकता था वह नगाड़ा
आम पहुंच के बाहर हो चुका है कभी का"

***

यह दिल्ली है दोस्त
मेरे तुम्हारे
गर्म ताज़ा और देसी लहू को
खौलते तेज़ाब मे बदल कर
पूरे देश की शिराओं में धकेलती हुई
यह दिल्ली है दोस्त!

इसे देखो.. गौर से देखो
पर छूना मना है।

पढ़ो
इन बुलंद इमारतों के छज्जों पर टंगी
भाषा को पढ़ो
दलाली इनमें सबसे प्रमाणिक अक्षर है

इस शहर के पांच तारा तंदूरों में
सिर्फ लकड़ियां ही नहीं जलती....

किसी बीमार दिल सी
लगातार फैलती यह दिल्ली
इसे दिल के डॉक्टर की अविलंब जरूरत है

* * *

विशेष लेख

बीसवीं शताब्दी के अंतिम काल खण्ड में हिन्दी कविता में विस्थापन की पीड़ा

-डा० भूषण लाल कौल

डा॰ अग्निशेखर की एक कविता का शीर्षक है - ''इस महाविपदा में''। कविता के निम्नलिखित अंश से अपनी बात शुरू करता हूँ :-

– ओ हिन्दी जगत के अधिकांश कवियो
मेरे मित्रो !
तुम नहीं थे कोई रिलीफ कमिश्नर
कि देना पड़ रहा है हमें तुम्हारी कविताओं में
थोड़ी सी शरण पाने के लिए आवेदन पत्र
एक सम्पूर्ण लुटी – पिटी विस्थापित जाति के घाव
बसना चाहते हैं तुम्हारे संवेदन के घर में कहीं।''

सन् 1990 ई॰ से आज तक अर्थात् पिछले तेरह वर्षो में हिन्दी कविता में एक विशिट काव्य प्रवृत्ति प्रादेशिक सीमाओं के भीतर अपने अस्तित्व का एहसास दिलाती हुई तथा एक ऐतिहासिक सत्य को मुखरित करती हुई पनप रही है। भले ही टेलिवजन चैनलों द्वारा खरीदे हुए अथवा महानगरों सें जुडे रचनाकारों के कलम की स्याही इस प्रवृत्ति को राष्ट्रीय स्तर पर मुखरित करने में खर्च न हुई हो परन्तु प्रादेशिक स्तर पर प्रबुद्ध हिन्दी कवि मानस विह्वलित हो उठा और उन ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सात लाख देशवासियों की मनोव्यथा को वाणी प्रदान करते हुए महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही है।

अपने ही देश में रिफ्यूजी बन कर अथवा विस्थापित होकर जीवन जीने की पीड़ा सहते हुए ये सात लाख भारतीय जो सदियों से अपनी बौद्धिक सम्पन्नता के लिये विश्व प्रसिद्ध रहे हैं तथा जो शताब्दियों से बुतशिकनीचक्की

में पिसते रहे – आज सैकड़ों नये अनुभवों के साथ जीवन जीने के उपक्रम में लगे हुए है। कश्मीर के इतिहास में इस प्रकार के विस्थापन के कई साख्य उपलब्ध हैं लेकिन भारतीय गण्राज्य के सन्दर्भ में जब हम इतिहास की इस जहरीली सचाई को आंकने का प्रयत्न करते हैं तो स्वयमेव कई प्रश्नचिंह एक साथ मन मस्तिष्क को कचोट देते है।

विस्थापित बुद्धिजीवी वर्ग पर इस भीषण दुर्घटना का प्रभाव पड़ना स्थाभाविक था। नया सोच पनपने लगा। भावनाओं का अथाह सागर उफ़न उठा। आक्रोश, विद्रोह, मानसिक पीड़ा, संत्रास, पराज्य बोध, भीतरी टूटन, मोहभंग जाने कितनी मनः स्थितियाँ एक साथ सर्जनात्मक कलाकार को तडफडाने लगी। कैनवास के फटे टेंट में परिवार के कई सदस्यों के साथ पारिवारिक एवं दाम्पत्य जीवन का निर्वाह, रोज़गार की तलाश में भटकाव, वेतन पाने की विवशता और लगातार महीनों इंतिजार, अपने खोये हुए विरसे पर मातम, परिजनों के छूटजाने का अफसोस परिवारों के विघटन की पीड़ा कहीं लू का प्रकोप कहीं बिच्छू डंक तो कहीं सर्पदंश, माल के कर्मचारियों की खुली लूट, एक हजार से अधिक जाति बन्धुओं की नृंशस हत्याओं का गम, प्रकृति का प्रकोप जाने कितनी विकट स्थितियों से गुजरने की विवशता ले कर भारत– राष्ट्र का एक जमाने में सर्वसम्पन्न पंडित समाज अकस्मात विनाश के भँवर में हिचकोले खाता हुआ दिखाई दिया। इन समस्त विकट स्थितियों को झेलते हुए उसे अवश्य सांत्वना मिली। उन देशबन्धुओं से जिन्होने अपने घरों के द्वार खोल कर इस विस्थपित, लुटेपिटे हिन्दुस्तानी का स्वागत किया। २०वीं शताब्दी के अंतिम काल खण्ड में घटित इतिहास की इस दुर्घटना ने कविता में एक काव्य प्रवृत्ति को जन्म दिया जिसे यदि विस्थापन की कविता कहा जाये तो उचित होगा।

स्वर्गीय प्रोफोसर पृथ्वीनाथ पुष्प, डॉ. रत्नलाल शांत, डॉ. शाशिशेखर तोषखानी, डॉ. अग्निशेखर, डॉ. श्रीमति क्षमा कौल, महाराज कृष्ण सन्तोषी, पृथ्वी नाथ मधुप, प्यारे हताश, डॉ. महाराज कृष्ण भरत, शम्भू नाथ भट्ट

हलीम, बाल कृष्ण सन्यासी त्रिलोकी नाथ कुन्दन, श्रीमति चन्द्र कान्ता, श्रीमती फूला कौल, श्रीमती सुनीता रैणा, मीनाक्षी कौल, डेम्बी, राज दुलारी कश्मीर के र्स्वणमि भूत और विपदग्रात मनवटी डॉ. कौशल्या लाहौरी गोपी राजदान, पंडित पांचाल आदि, भाषा भाषी कवियों ने इस त्रासदी से प्रेरित हो कर हिन्दी कविता लिखी। वतर्मान पर अपनी तीखी और चुमती हुई काण्यात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त की। कश्मीर के स्वर्णिम भूत और विपद त्रस्त।

यथार्थ की तपिश से जब अरमान झुलस जाते है तो वे अभिव्यक्ति के किसी विशेष साधन को मुहताज नहीं रहते। हिन्दी के साथ साथ कश्मीरी भाषा के कलमकार भी इस आग की तपिश से कराह उठें। इन में सर्वश्री स्वर्गीय मोतीलाल साकी, स्वर्गीय चमन लाल 'चमन', तेज रावल, पृथवी नाथ कौल, सायिल, अर्जुनदेव मजबूर, प्यारे हताश, प्रेमनाथ, शाद मक्खन लाल कंवल, रत्न लाल जौहर, जवाहर लाल सरूर, रघुनाथ कस्तूर, काशी नाथ बागवान, जगन्नाथ सागर आदि उल्लेखनीय हैं।

राजनीतिक कुचकों एवं गोलमाल घोटालों से जर्जरित भारत राष्ट्र के सात लाख भारत वासियों की मनोव्यथा से आप्लावित कई काव्य संग्रह पिछले तेरह वर्षो में प्रकाशित हुए है।

1. हिन्दी आकदामी दिल्ली के सहयोग से सन् 1995 ई. में महाराज कृष्ण भरत का काव्य संग्रह फिरन में छिपाए तिंरगा अनिल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। भरत नगरोटा जम्मू के विस्थपित कैम्प में स्वयं कई वर्ष अप्रत्याशित यथार्थ से निरन्तर जूझने रहे। नौकरी की तलाश में दफतरों / करखानों/ विद्यालयों के द्वार खटखटाते। अंत में 'पाचंजन्य' साप्ताहिक से जुड़ गए। इस संग्रह में कवि की 71 कविताएँ संगृहीत है। सन् 1997 ई. में अहिन्दी भाषी हिन्दी कवि के रूप में भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित महाराज कृष्ण भरत के इस संग्रह में समस्त कविताएँ चार उपशीर्षकों –

1. 'तम्बुओं के भीतर'
2. 'मेरा रोम रोम सिहर उठता है।'
3. 'मेरा अलग विधान हैं' तथा
4. 'भोर की पहली किरण'

में विभाजित है। अंतिम उपशीर्षक कवि मानस की आस्था और आशावादी दृष्टि का घयोतक है। क्यों न हो आखिर उम्मीद का दामन तो किसी ने नहीं छोड़ा है।

2. अपनी धरती से निर्वासित श्री महाराज कृष्ण सन्तोषी के तीन काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं –

1. 'इस बार शायद'
2. 'बर्फ पर नगें पांव तथा
3. 'यह समय कविता का नहीं'

सन्तोषी का दूसरा काव्य संग्रह बर्फ पर नंगे पांव पल्लवी प्रकाशन दिल्ली से सन् 1992 ई. में प्रकाशित हुआ। कश्मीर की स्मृतियों से जुड़ी और जीवन विसंगितियों से अनुप्राणित 58 कविताएँ संग्रह में संगृहीत हैं।

यह समय कविता का नहीं निर्वासन में सन्तोषी की कविताओं का महत्त्वपूर्ण संग्रह है जो 1996 ई. में शारदा पीठ प्रकाशन लक्ष्मीनगर दिल्ली–92 से प्रकाशित हुआ। कवि ने इस संग्रह को अपने गांव के नाम समर्पित किया है। 54 कवितायों के इस संग्रह में युवा कवि को सर्जना की प्रेरणा निर्वासन में विकट स्थितियों का सामना करते ही मिली हैं। यह तो भोगे हुए यथार्थ की सहज अभिव्यक्ति है। स्वप्नों के खण्ड–खण्ड बिखर जाने पर भी उन की कविताओं में उबलता आक्रोश कला के सांचे में बड़ी खूबसूरती के साथ ढल गया है। हां, वे सर्जन के प्रति सचेत होने के साथ साथ आस्थवान भी है। उन्हीं के शब्दों में 'मानवीय जीवन की गरिमा में गहन आस्था'। संग्रह का आवरण पृष्ठ रक्तवर्ण का है। क्यों न हो, आज जन्मभूमि जो लहूलुहान है और इसी रक्तवर्ण की स्याही से उन्होंने आवरण

पृष्ठ पर ही अपने जीवन से जुडे यथार्थ का परिचय बोध्र कराया है –

"इस उजाड में
चिरागों की कांपती हुई लौ
देख कर
कितने खुश हो रहे होंगे
सांप और बिच्छु
दंश के इतने निकट
होते हुए भी
हम ने लिखी अनगिनत कविताएं
सुने गीत
पहले से भी अधिक
लगाये कहकहे
तुम्बुओं में होते हुए भी
हम ने टूटने से बचाया
अपना कद।"

सन् 1996 ई. में डॉ. अग्निशेखर का काव्य संग्रह 'मुझ से छीन ले गई नदी' प्रकाशित हुआ। सन् 1990 से ही अग्निशेखर विस्थापित समाज के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निबा रहे है। टूटी और बिखरी हुई शृंखलाओ को पुनः जोड़ कर अग्निशेखर ने दिग्भ्रमित समाज को एक नया नेतृत्व प्रदान किया। पिछले तेरह वर्षो से विस्थापित समाज के लिए वे लौह पुरूष क़ी भूमिका निभा रहे हैं। यहां उन की र्चचा प्रकाशित काव्य संग्रह 'मुझसे छीन ली गई मेरी नदी' के संदर्भ में है।

उनके इस कविता संग्रह का आवरण, प्रष्ट काले रंग का है –

तमस अधिकार का प्रतीक, घटाओं से घिरे जीवन का प्रतीक है। संग्रह के मुख–पृष्ठ पर प्रकाशित है निर्वासन में अग्निशेखर की कविताएं। इस संग्रह में कुल 69 कविताएं है। कवि लेखकीय स्वायतता को बरकारार

रखने के लिये नैतिक साहस को नितान्त आवश्यक मानते है। संग्रह की प्रथम कविता तड़प कवि की जीवन दृष्टि अथवा लक्ष्य की ओर स्पष्ट सकेत करती है।

नीहार प्रकाशन जम्मू से सन् 1997 ई. में प्रोफेसर रत्नलाल शान्त का बहुचर्चित कविता संग्रह 'कविता अभी भी' प्रकाशित हुआ। सन् 1938 ई में जन्में शांत जी कश्मीर के एक जाने मोने रचनाकार है। एक सशक्त गद्य लेखक, कुशल शोधकर्ता एवं सम्पादक, समर्थ अनुवादक एवं चर्चित अध यापक के रूप में उन का योगान महत्त्वपूर्ण रहा है। शांत जी दो भाषाओं हिन्दी एवं कश्मीरी में समान रूप में लिखते चले आ रहे है। शान्त जी कवि है – हिन्दी के कवि ।सच्चे अर्थो में कवि। कई दशाब्दियां की निरन्तर साध ाना के बाद आज उनका सर्जनहार कवि विकास के विभिन्न मंजिलों की सूचना देता हुआ कविता अभी भी काव्य संकलन में निखर उठा है। पिछले तीन दशकों के अनुभव से जुड़ी 96 कविताएँ प्रस्तुत संग्रह में संगृहीत है जिन में केवल 18 कवितायें विस्थापन की पीड़ा से प्रेरित होकर लिखी गई हैं।

यहाँ इस बात को स्पष्ट करना आवश्यक है कि शान्त जी को कश्मीरी और हिन्दी के साथ साथ अंग्रेजी एवं संस्कृत भाषाओं की भी गहन जानकारी है। पिछली दो शताब्दियों में देश विदेश में चल रहे विभिन्न काव्य आन्दोलनों एव चिन्तन – पद्धतियों की उन्हें गहरी पहचान है।

साठोत्तरी युग की हिन्दी कविता के विभिन्न मोडों से गुजर कर वे निजी अनुभवों के अनेकों मौक्तिक समेटने में लीन थे कि पलायन के भूत ने द्वार पर दस्तक दी और 'शान्त' जी इन्दिरा नगर (श्रीनगर) से सुभाष नगर (जम्मू) आ पहुँचे। अत्यन्त विकट परिस्थितयों में भी वे निरन्तर सर्जन में लीन रहे बल्कि अधिक सक्रिय हो उठे जो नित हो रहे परस्पर विरोधी अनुभवों की टकराहट में स्वाभाविक था।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा सम्मानित 'शान्त' जी का मानना"

कि:–

'कविता अभी भी मेरा' अंतस से संवाद का मुख्य माध्यम है। बिना किसी सम्भ्रम के।''

वे आज के युगीन सत्य से भी अपरिचित नहीं है। लिखते हैं :–

'रूचिहीनता बढ़ रही है और इस कारण लेखक और भावक का सम्बन्ध क्षीण होता जा रहा है। स्थिति इतनी त्रासद हो रही है कि रचित शब्द अब बड़ी मुश्किल से रचियता को बचाए रख सकेगा।''

कठिन आत्म निर्वासन में जीते हुए भी वे भविष्य के प्रति आशावान है। लिखते हैं

–'पर स्थिति सदा ऐसी ही बनी रहे, ऐसा सोचना भी ठीक नहीं। इसे संक्रान्ति काल ही माना जा सकता है। .... नई प्रस्तुति में आदमी की पहचान तथा अनिवार्य प्रासंगिकता फिर स्थापित करे गी कविता।''

प्रस्तुत संग्रह में प्रत्येक रचना के साथ लेखन तिथि भी दी गई है जो कविता का सही मूल्यांकन करने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

सन् 1996 ई॰ में 'हमारा अपना कश्मीर' काव्यसंकलन सृजनपीठ हिन्दी विभाग (लखनक विश्वद्यिालय) द्वारा प्रकाशित हुआ जिस में 27 गैर कश्मीरी कवियों की 27 कविताएं संकलित हैं। इस संकलन की सम्पादिका हैं – डॉ॰ भुवनेश्वरी इस संकलन की रचनायें देश प्रेम एवं राष्ट्रीय भावना से ओतपोत है लेकिन विस्थापन से जुडी वस्तुस्थिति का यथार्थ बहुत कम देखने को मिलता है। वरिष्ठ कवि डॉ॰ जगदीश गुप्त की 'बुझते अंगारे' इस संग्रह की एक प्रमुख रचना है। कवि लिखते हैं :–

'कांगडी के भीतर
अंगारे बुझ गए हैं।
राख ही राख

शायद रह गई है।''

अपने ही देश में/ विस्थापित लोगों की / मर्म व्यथा कौन कहे।''

आज तक लिखी गई विस्थापन की कविता' का अध्ययन करने के पश्चात् कई तथ्य उभर कर सामने आते हैं :–

यह कविता कवियों के निजि अनुभूत सत्य पर आधारित हैं। माननीय अटल बिहारी वाजपेयी जी ने 'भरत' के काव्य संग्रह 'फिरन में छुपाए तिरंगा' का मुखपृष्ठ सुशोभित करते हुए लिखा है :–

'उनका अनंतनाग में घर आतंकवादियों ने जला दिया। पूरा परिवार सदियों पुराना अपने पुरखों का शहर, घर बार छोड कर जम्मू के विस्थापित शिविर में रहने के लिए विवश हुआ। उन के हृदय में लहरा रहा देशभक्ति का तिरंगा आहत हुआ।''

'फिरन में छिपा तिरंगा' इस संग्रह की एक सशक्त रचना है। अनुभूत सत्य का ऐतिहासिक दस्तावेज़ :–

'मैं,
आजाद भारत का
गुलाम शरणार्थी
विवश हूँ –
रिलीफ कमिश्नर की
गुलामी के लिए
तीन साल पहले
मैं, रात के अन्धेरे में
भागा था,
फिरन में
छिपाए तिरंगे को
और

आज 'आजादी'
मेरे लिए
तीन अक्षरों का
एक जमावड़ा है।''

विस्थापन की कविता का दूसरा आकर्षण इस के गहन इतिहास बोध में निहित है। कवि अपने अतीत के साथ मजबूती के साथ जुड़ा है। उसे अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व है और आज भी अपने पूर्वजों की याद के सहारे वह अपने उजड़े हुए वर्तमान को सजाने का सफल/असफल प्रयास कर रहा है। कश्यपमर का भव्य इतिहास, शारदा पीठ का स्वर्णिम अतीत, अभिनव गुप्त का 'तंत्रालोक', क्षेमेन्द्र का दशावतार चरित' मड़खक (१२वीं शती) का 'श्रीकंठ चरित' कल्हण की राजतरंगिणी', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' लल्लेश्वरी के 'वाख' (वाक) और सहजानन्द (नुन्दऋषि) के 'श्रुख' (श्लोक), परमानन्द के भक्ति गीत और प्रकाश भट्ट का रामकाव्य, दीनानाथ नादिम के राष्ट्रीय गीत और मास्टर जिन्द कौल की आध्यात्मिक चिन्तन पर आधृत रचनाएँ, बंसी पारिमू और गुलाम रसूल संतोष की चित्र कला, सोमनाथ साधू और पुष्कर भान की अदाकारी, प्रोफेसर पृथवीनाथ पृष्प, एवं प्रोफेसर जिया लाल कौल का शोधकार्य, मोती लाल साकी, अर्जुनदेव मजबूर, पृथवी नाथ कौल सायिल एवं मोहन लाल आश का रचना कौशल – 'यही तो उस की सांस्कृतिक विरासत है।

'संतोषी' अपनी परंपरा से जुडे हुए है। पाँच हजार वर्ष पुरानी परम्परा की अगली कडी के रूप में अपना उनतालीसवाँ जन्म दिन मनाते हुए कवि लिखते हैं :–

'आज मैं खुश हूँ अपने जन्म दिन पर
यह जानते हुए भी कि
मां के बनाए हुए पीले चावलों से
अलग नहीं है

मेरी व्यथा का रंग

आज मैं खुश हूँ कि उनतालिस नहीं

मेरी आयु पाँच हजार वर्ष पार कर चुकी है

मैं खुश हूँ कि लावारिस नहीं हूँ मैं

इतिहास मेरा पिता है।''

आज जिस त्रासद घटनाचक्र से विस्थापित कश्मीरी गुज़र रहा है – इतिहास गवाह है कि कई बार वह इन तूफानों का सामना करने के लिऐ विवश हुआ है। सदा उसे सर्पमुख पर पटक दिया गया है फिर भी जीवन जीने का अदम्य उत्साह उस के भीतर कम नहीं हुआ 'संतोषी' लिखते हैं:–

–जीवन के इस सांप–सीढ़ी खेल में

हमें समय ने सदा ही

सर्पमुख पर दे फेंका है

फिर भी हमारे उत्साह की

कोई इति नहीं

सीढ़ियाँ न सही

पर हमें गर्व है

कि हमारे कदम

काल के फन पर पड़ते हैं।''

सर्जन की दृष्टि से 'घर की पुकार' संतोषी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। एक मँजे हुए कवि की खालिस काव्यभिव्यक्ति जिस में सब कुछ एक साथ देखने को मिलता है – कवि का इतिहास बोध, सांस्कृतिक पहचान, पूर्वजों के साथ जुडने की ललक, वर्तमान दुर्दशा, जिन्दा लाश के समान जीवन जीने की विवश्ता तथा अभिव्यक्ति की ताजगी।

लल्लेश्वरी के इस 'वाख' की पृष्ठभूमि में 'संतोषी' घर लौट जाने की तमन्ना पूरी संजीदगी के साथ व्यक्त करते हैं लेकिन काल की सीमाओं में बन्धा कविहृदय यथार्थ की आंच से झुलस जाता है।

"आमि पनुँ सोदरस नावि छस लमान
कति बोज़ि दय म्योन म्यति दियि तार
आम्यन टाक्यन पोन्य जन शमान
जू छुम ब्रमान गरुँ गछुँ हा।"
(कच्चे धागे के सहारे खेती हूँ नाव भवसागर में
काश ! सुन लेते ईश बात मेरी, पार उतरती नाव
हूँ तो कच्ची मिट्टी का बरतन रिसता है जल निरन्तर
प्राण व्याकुल हैं घर जाने के हेतु)।

सन्तोषी इसी 'लल–वाख' की पृष्ठभूमि में अपनी बात इस प्रकार से कहते हैं :–

–'तुम्हारे पास
अपना कच्चा धागा तो था
माँ लल्लेश्वरी !
मेरे पास
जले हुए कपास की स्मृतियाँ हैं।
हाँ, सुन रहा हूँ मैं भी
घर की पुकार
मगर क्या करूँ
नाव खींचने के लिए
अभी कितना कम पड़ रहा है
मेरा धागा !

विस्थापन की कविता में तीसरा आकर्षण विस्थापित जीवन की विसंगतियों से उत्पन्न क्षोभ, निराशा, मृत्युभोध, पराजय – बोध, मानसिक कुंठा, स्वपन भंग से उत्पन्न आक्रोश की चुटीली अभिव्यक्ति में निहित है। समाज इस प्रकार के अकस्मात् कायापलट कर देने वाली वस्तुस्थिति के लिये कदापि तैयार नहीं था। 19 जनवरी 1990 ई॰ मस्जिदों के माइक्रोफोनों पर जब

रात के दस बजे एक साथ सारे शहर में ड्रम पीटने की भीषण ध्वनि दिशाओं में गूँज उठी तो सारा वातावरण न केवल भयावह अपितु विश्वासघाती बन कर जहरीले नाग की तरह फुफकार उठा। अग्निशेखर की एक कविता का शीर्षक है – '19 जनवरी 1990 की रात'। कविता में उन्हीं ने अकस्मात् कहर ढाती उस रात का भयोत्पादक स्मृति बिम्ब इस प्रकार अंकित किया है :–

–'तहखाने में कोयले की बोरियों के पीछे
छिपाई गयीं मेरी बहनें
पिता बिजली बुझा कर घूम रहे हैं
कमरे में यों ही
रोने बिलखने लगे है मुहल्ले के बच्चे
होंठ और किवाड़
दोनों है बन्द
बाहर कोई भी निकले
शब्द या आदमी –
दोनों को खतरा है।"

सच है कि इतिहास के सत्य से कवि का सत्य कहीं अधिक शक्तिशाली शाश्वत एवं विश्वसनीय होता है। अग्निशेखर इसे बड़ा और महान मानते हैं।

अपनी मिट्टी की भीनी भीनी सुगन्ध से विस्थापन की कविता महक रही है। यह इस कविता का चौथा आकर्षण है। कवि अपनी माटी के मोह को त्याग नहीं सका है और त्यागना भी नहीं चाहता। आखिर मातृभूमि तो जननी जन्मभूमि है, मात्र भूमि नहीं। उसे अथाह प्यार है कश्यपमर के कण–कण से क्योंकि उस की माटी में हमारे पूर्वजों के अस्थि अवशेष मिले है यही कारण है कि अग्निशेखर अपनी जमीन के स्पर्श के लिये तरस रहा है। लिखते हैं :–

–'अरे मेरा करो अपहरण
ले जाओ मुझे अपने यातना शिविर में,

जिन्दा जलाओ, काटो
या दफन करो कहीं मुझे

मैं तरस गया हूँ
अपनी जमीन के स्पर्श के लिये।''

उमडते घुमडते बादलों के बीच मातृभूमि की स्मृतियाँ रह रह कर मानस पटल पर कौन्ध उठती हैं। यह वास्तव में अभिव्यक्ति की स्वाभाविक प्रक्रिया है। सम्भवतः भारत के इतिहास में यह पहला अवसर है कि देशवासी अपने ही देश के भीतर शरणार्थी बनकर अथवा बेघर होकर जीने के लिये विवश हैं। अपने आप को हिन्दुस्तानी कहने की कीमत चुका रहे हैं। ये लोग सब कुछ पीछे छोड आये हैं। चल–अचल सम्पति के छूट जाने का इन्हें दुख नहीं, दुख है केवल इस बात का कि माँ शारिका की थापना पीछे छूट गई, तुलमुला का पवित्र तीर्थ, सहजानन्द का च्रारिशरीफ, भोलेनाथ की गुफा, मार्तण्ड का सूर्य मन्दिर, शारदा में स्थित शारदा पीठ जाने कितनी स्मृतियाँ जन्मभूमि के साथ जुडी हैं और आज रह रह कर हमें अधीर कर देती हैं तिस पर बच्चे जब बार–बार घर लौट चलने की जिद पकड लेते हैं तो अपने आप पर निमंत्रण कर पाना असम्भव हो जाता है :–

– उड जाती है टैंटों की रस्सियों से
एक साथ बीसियों चिडियाँ
सूनी हो जाती है मेरी बिटिया
लुप्त हो जाती है उन की चहक
फिर अनायास पूछती है –
पापा हम कब जायें गे घर?''

यही कारण है कि कवि स्मृति विहीन होकर जीने की तमन्ना करके रह

जाता है :–

–एक एक बरस दूर सरके रहे हैं मेरे घाव
और बिना आवाज किये
काट रही है चक्कर उन के इर्द गिर्द मेरी स्मृतियां

मैं दूर जाना चाहता हूँ कहीं
स्मृति विहीन हो कर
पानी में बहती किसी शहतीर सा।''

'शान्त' जी अपनी माटी से जुडे हैं गहन रूप में। विस्थापन की यातना झेलते हुए भी वे अपनी सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखने का भरसक प्रयास कर रहे हैं। चाहे वह महाशिवरात्रि का पावन पर्व हो अथवा कृष्ण जन्माष्टमी, माँ शरिका का जन्म दिवस हो अथवा ज्येष्ठ अष्टमी, गौरी तृतीया (माघशुक्लपक्ष) हो अथवा 'जंगत्रय' (चैत्र शुक्ल पक्ष)। विस्थापित आज भी अपनी परम्परा से जुडे रहने के लिये कृतसंकल्प हैं। आखिर यही तो इन की पहचान है। ये वितस्ता से अपना रिश्ता तोड़ नहीं सकते। 'महादेव' और 'हरमुख' की चोटियों के साथ इन का हजारों वर्षों का सम्बन्ध रहा है। इंच इंच सरकते ग्लेशियर और रंग बदलते चिनार आज भी इन के सपनों की दुनिया को सजाते संवारते हैं। ''शान्त'' जी का भावुक कवि वस्तुस्थिति से अवगत कराते हुए लिखते हैं :–

–'ऐसा नहीं कि यह जमीन
बहुत तपती है और
मैं तलुए झुलस जाने के डर से
इस पर पैर रख नहीं रहा

ऐसा है बन्धु, कि मेरे पैर वितस्ता की कचि ने
पकड रखे हैं
और हडबडाहट में
मैं उन्हें पीछे छोड आया हूँ

मेरा माथा अभी भी
यहाँ के ताप से पिघल नहीं रहा,
यह सदियों से
'महांदेव' और 'हरमुख' की मेघ ढकी चोटियों से
ठण्डे धीमें संवाद में
लीन है।''

व्यंग्य की तीखी – प्रखर अभिव्यक्ति विस्थापन की कविता का पाँचवाँ आकर्षण है। इन व्यंग्य रचनाओं में वस्तुस्थिति का यथार्थ बोध कराने के हेतु कहीं हल्की चोट की गयी है तो कहीं तीखा प्रहार। कहीं व्यंग्योक्ति भीतरी कुढन को मुखर कर देती है तो कहीं नश्तर की तेज़ धार बन कर हृदय को चीर देती है, कहीं नेताओं के बौनेपन का मजाक उड़ाती है तो कहीं हमारी निजी कमजोरियों को रेखांकित कर देती है।

राजनीति के गुर्गों पर कसा गया व्यंग्य 'संतोषी' के ईमानदार व्यक्तित्व की पहचान है। सुखराम का दुखमोचन महल आखिर किसे अपनी ओर आकर्षित नहीं करता। इस देश की मुर्गी एक दिन में 20 किलो दाना चट कर देती है तथा एक दिन अकस्मात् वबा (महामारी) का शिकार हो जाती है। वाह रे भोले नाथ ! तुम्हारी महिमा अपरम्पार है।

'एक बूढे नागरिक का बयान शीर्षक कविता में सन्तोषी स्वत्रंत भारत के परतंत्र नागरिक की विवशता को व्यंग्योक्ति के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :

–'मेरे इस भूगोल में
कितनी सुंदर जगहें हैं
जिन्हें देखना
मैं ने हमेशा स्थागित किया
आखिर
मैं कर भी क्या सकता था

उन्हों ने मुझे
केवल इतना चलना सिखा दिया है
कि मतदान केन्द्र तक पहुंच सकूं।'

तम्बू और गोलमाल – दोनों एक इसरे के पर्याय है। विस्थापितों के पुनर्वास को ले कर जो घपले बाजी हुई उस का जीवित गवाह या सशक्त प्रतीक तम्बू है जिस में बारिश की बून्दों को भी सहन करने की शक्ति नहीं। अग्निशेखर कीएक लघु कविता बारिश में पतंग एक साथ हंसा भी देती है और रूला भी देती है। बड़ा जोरदार व्यग्य हैं :

'इस बारिश में
कैम्प के पिछवाडे
मुर्दा भैंस के कंकाल में छिपा कर
रख आता है एक बच्चा अपनी पतंग
तम्बू से उठ गया है
उस का विश्वास।

'बडे ढीठ हो कश्मीर 'शान्त' जी की एक व्यंग्यरचना है जिस में उन्हों ने अपने भीतरी आक्रोश को अथवा भीतरी कसक को मूर्त अभिव्यक्ति प्रदान की। कविता कई ऐतिहासिक तथ्यों की ओर संकेत करती हुई स्याही में ढलने को कुलबुलाती बौखलाहट पर समाप्त होती है –

–बडे ढीठ हो, कश्मीर
ठीक भूकम्प के समय
लोहे और आग का खेल देखने
कहां छिपे गये?
जानते हो
तुम्हारी उस बच्ची का हाथ
बहुत देर हवा पकडने की कोशिश करता रहा

जिस की उगंली छोड़ कर तुम हवा हो गए।

सुनो, ताकि याद रहें

हवा की ही तरह कोई लोहा भांजता आया

और उसे

मांग से जांघ तक काट गया।

जून सन् 1997 ई में भारत के राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत हिन्दी की कवयित्री एवं गद्य लेखिका डॉ. क्षमा कौल कई प्रकार से विस्थापन की यातना बराबर झेल रही है। उन की कविताओं में विस्थापन से उभरी मनः स्थिति के नाना बिम्ब सशक्त रूप में व्यक्त हुए है। भीतरी आक्रोश को नियंत्रण में रखना जब असम्भव हो जाता है तो हसास रचनाकार उसे हास्य और व्यग्य का जामा पहना कर तथा शिष्टता की सीमाओं में बान्ध ा कर व्यक्त करना है। विस्थापन से कुछ वर्ष पूर्व अनन्तनाग की विनाशलीला के समय खतरे की घंटी बजी थी लेकिन हम थे कि सुन कर भी अनसुनी कर दी। 'वे खा रहे है मलाई' शीर्षक कविता में कवयित्री मज़ाक में कहे गये यथार्थ को रेखकित करते हुए लिखती है :—

— 'वे कहा करते

किया करते से दिल्लगी

कहा करते हंसी — हंसी में

कर देंगी तुम्हारी ही हड्डियों से

नाशरी की भरपाई।

हम भी हंसा करते

कहा करते — लो क्या

तुम्हारी शामत आई?

वे कहा करते

किया करते दिल्लगी

निकाहो हम से ही बेटी

हम हंसा करते

सहम कर रेत में धंसा गर्दन

करते देश की नीतियों की पढ़ाई।।

वे कहा करते

मूर्खो बनाओं बनाओं महल

आखिर आएं गे तो अपने काम।'

विस्थापन की कविता में आक्रोश और विद्रोह का स्वर व्यवस्था को बदल डालने के लिये न केवल उत्तेजित करता है अपितु मानस के वीराने में प्रतिशोधात्मक विनगारियों को भी सुलगा देता है। यह इस कविता का छठा आकर्षण है। अग्निशेखर की कवितायों में विद्रोह का स्वर अधिक प्रखर एवं जानलेवा है। श्रीनगर छोड़ते समय कवि अपने साथ कुछ भी नहीं ला सका यहां तक कि वह छोटा सा बीफकेस भी उनसे छुट गया जिस में उन्होंने कुछ जरूरी कागज, परीक्षाओं के प्रमाण पत्र एवं अंक तालिकाएं रखी थी। हर क्षण जोखिम को गले लगा कर उन्हों ने दहकते अंगारों के ऊपर से चलने की क्षमता जुटाली। तलवे झुलस गये, एक बार नहीं – कई बार – बार बार, लेकिन अंगारों की दहक उन के संकल्प को शक्तिहीन न कर सकी। उन की विद्रोही कविताओं में युवा कवि का भीतरी आक्रोश, अन्याय को सहन न कर सकने का दृढ़संकल्प और विषम परिस्थिति को बदल डालने की कटिवद्धता सर्वत्र देखने को मिलती है। उन का मानना है – 'इस संसार को झिंझोड दिये जाने की जरूरत है। ताकि भविष्य की पीढ़ियों के सवालों के आगे हमें खामोश न रहना पडे। यह मुश्किलों से जुझने का समय है।"

अग्निशेखर का शायर अपने मानस के प्रति ईमानदार है। समय ने उन्हें जहरीले विषघूँट पीने के लिये विवश किया लेकिन टूटन के शिकन उन के माथे पर कहीं दिखाई नहीं दिये। वे लिखते है :–

' जब कविताएं वजह बनी

मेरे निष्कासन की
मैं ने और ज्यादा प्यार किया जोखिम से
अवसाद और विद्रोह के लम्हो में
मैं ने मारी आग में छलांग
और जिया
शायर होने की कीमत अदा करते हुए।'

यथार्थ के ऊपर से छद्म शिष्टता का झीना आवरण हटा कर 'भरत' आक्रोश के कारणों को रेखकित करते हुए विद्रोह का स्वागत करने अथवा विद्रोही बन कर जीने की प्रेरणा देते हुए लिखते है :–

– जीवित ही जिन के सीने को फाड़
निकाल लिए जिगर,
नोच ली खाल
लटका दिया चिनार से,
बांध बोरी में
फेंका प्रवाह में,
अपहरण कर
गुप्तांगों पर किए प्रहार,
भून दिया गोलियों से
जिन्हें –
कतार में खड़ा करके,
पूछती हैं वे रूहें
हम से कई सवाल–
जम गया है क्या
तुम्हारी धमनियों का रक्त
अधिकारों की लड़ाई
लड़ नहीं सकते?''

विस्थापन की कविता का सातवाँ आकर्षण है उग्रपंथी नकाबपोश का तस्सवुर।

आज के आंतकवादी युग में नकाबपोश उग्रवादी का तस्सवुर अस्तित्व की जड़ों को भी हिला देता है। जीते जी मर जाने के लिए ए.के. 47 अथवा कलाशनकोप लिये प्रेतात्मा सदृश नकाबपोश की क्षणिक उपस्थिति भी रक्त प्रवाही धमनियों में रक्त संचार को रोकने के लिये पर्याप्त है। लेकिन सन्तोषी उस की अन्तरात्मा को टटोल कर उसके भीतर छिपे मानवीय संवेदनाओं को तलाशने का प्रयासय करता है। उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास है कि एक निर्मम हत्या करने से पूर्ण वह पहले अपनी ही हत्या कर देता है। 'नकाबपोश' शीर्षक कविता में 'संतोषी' लिखते हैं:–

– इस बात से
किसे इंकार हो सकता है
कि नकाबपोश का भी होता होगा
कोई चेहरा, कोई घर, कोई पता
और आंखों में छिपे दो आंसू
जिन्हें वह एकान्त में
गिरने देता होगा अधरों तक।

और अब इस बात की विश्वास हो कि यह नकाबपोश कोई पराया नहीं मेरा ही विद्यार्थी है जो मेरे आंगन में अल्टीमेटन का पर्चा फेंक कर गुरुदक्षणा चुकाने की नव्यतम पद्वति को अपना रहा है तो आंखों के सामने केवल सातगज़ आसमान ही दिखाई देने लगता है। 'शान्त' जी अपनी कविता प्रमाण पत्र नहीं है मेरे पास' में लिखते हैं :–

– 'नहीं
नहीं; वह प्रमाणपत्र नहीं था
जो पलायन की उस रात, मुंह ढ़क कर
मेरा विद्यार्थी मेरे आंगन में फेंक गया था

वह

मुझ से अक्षर अक्षर सीखे मेरे शिष्य का हस्ताक्षरित

अल्टीमेटम था

जिस की रू से

अगली सुबह उगने वाला सुरज

मेरे रोशनदान पर रखा

टाइम बम था'

विस्थपित समाज जब अपने अतीत और वर्तमान को एक साथ देखने का प्रयास करता है तो बरबस (All of a sudden) अपने खण्डहरनुमा अस्तित्व पर आठ आठ आंसू रो उठता है। उसकी मानसिक पीड़ा, पराजयबोध तथा खंडित अस्तित्व का गहराता एहसास विस्थापन की कविता में कई प्रकार से व्यक्त हुआ है। अभिव्यक्ति के स्तर पर यदि इसे पीडा बोध कहे तो मुझे कोई आपति नहीं। कहीं उसे अपने वतन की याद कलपाती है तो कहीं वर्तमान में अपनी बूढी मां की दीनहीन अवस्था रूला देती है। अतः अतीत और वर्तमान की टकराहट से उत्पन्न गहन पीडा बोध विस्थान फलैश की कविता का आठवां आकर्षण है।

दीपावली के शुभअवसर पर स्मृतिया मन को उदास कर देती है (पूर्व स्मृति अंकन) पद्धति के द्वारा कवि भूत को वर्तमान के साथ जोड कर भविष्य के लिये सुरक्षित बना देता है। शताब्दियों से हम ज्योति पर्व मनाते चले आये हैं लेकिन समसामयिक सन्दर्भो की पृष्ठभूमि में इस उत्सव पर बधाइयां पाने से पूर्व ही शुभकामनाएं देने के लिए विवश है और यह विवशता जीवन जीने की नहीं अपितु जीवन खोने की निशानी है। नेहरू का गुलाब आज गर्म लहू की बूंद जैसा लगता है। चाहे दीप सर्वत्र उत्सवी मुद्रा में क्यों न जल रहे हूँ।' अग्निशेखर 'ज्योतिपर्व कविता में लिखते हैंः—

—'मैं ने बरसों से नहीं मनाई दीपावली

अपने घर में

शुक्रिया मेरे देश
मुजाहिदों ने आराम से जला डाला
मेरा घर
शुभ कामनाएँ तुम्हें ज्योति पर्व पर।'

शरणार्थी शिविर में लिखी गई एक शीर्षकहीन कविता 'संतोषी' की एक आकर्षक कलात्मक रचना है जिस में संवेदना के स्तर पर गाँव के कुम्हार से बतियाने का मंजर कवि की रचना प्रक्रिया को न केवल महत्वपूर्ण बना देता है अपितु जिन्दगी के सूनेपन की पीडा को भी मुखरित कर देती है। बीते हुए कल की याद कभी कभी असह्य वेदना का कारण बन जाती है। मन ही मन रूला देती है और वर्तमान को बदल डालने की प्रेरणा भी देती है। विस्थापन में दीपावली की रात में देखा गया सपना कवि के मानस पटल पर अंकित होकर शब्दों के माध्यम से इस प्रकार मूर्त हो उठा है:–

–'दीपाली की रात
मेरे सपने में
अपने गाँव का कुम्हार आया
और बहुत रोया
उस के आँसुओं से
भीग गई
मेरी मिट्टी की स्मृतियाँ
क्या गम है
पूछा मैं ने
पहले चुप रहा कुम्हार
फिर धीरे–धीरे बोला
इस बार दीपाली पर
मेरे दिये
किसी ने नहीं लिये

मैं ने कुम्हार से
दिया लेकर
उसे अपने सब से ताजा घाव पर
रख कर जला दिया
दीपाली की रात।"

भीषण वर्तमान का दर्दभरा एहसास कुंभीपाक नरक की यातना से कुछ कम नहीं। विस्थापन में बूढ़ी माँ की पीड़ा का अग्निशेखर सहन नहीं कर पाता। एक माँ को पीछे छोड अब तो जन्म माता ही जन्म जन्मान्तरों की संचित पूजी है उन के पास। विगत की सही पहचान जब वर्तमान की तपिश से कराह उठती है तो कवि के घायल हृदय पर पडी पपडी को मानो कोई खरोच कर घाव को पुनः रक्त स्राव बना देता है :–

'काठ की खूँटी से टंगे
तुम्हारे फिरन के साथ
हमारी कितनी स्मृतियाँ जुड़ी थीं
रोती है यहाँ जलावतनी में मेरी माँ
इत्मीनान से मरने की जगह से वंचित
बरसों पुरानी काठ की सन्दूकची को याद कर
वह पगला जाती है इस कुम्भीपाक में।"

घर छूटने की पीडा का गहराता एहसास शान्त जी को भी अशान्त कर देता है। रह रह कर उस की याद तथा उस के साथ जुडे परम्परागत रिश्तों की मीठी कसक आज उसे अधीर बना देती है। खोये हुए कल की याद उस की साँसों में गांठ बन के अटक गइ है। ऐसी भीषण दमघोटू स्थिति में मातमी मुद्रा में विलाप कर के 'शान्त' मौन हो जाते हैः–

–'छूटा
दूर, बहुत दूर हो रहा है
मेरा घर,

मन की हर सम्भव उडान से दूर ....

यद्यपि

सांस मे गांठ हो के अटक गया है।

कोई खबर नहीं लाया

७ कोई संदेसा उड के नहीं आया।

कोई जाए और मेरा घर देख आए।

फरवरी सन 1992 ई॰ में लिखी 'ॠतुचक' शीर्षक कविता में ''शान्त'' जी बीते हुए कल की पुनः स्मृति से उदास होकर पीले फुंदने वाली सरसों से अपने मानस के रिश्ते को व्यक्त करते हुए लिखते हैं :–

दो बरस पहले।

इसी दिन

चल पडा था मेरा काफिला।

वतन को विदा कहती भीगी नजरों से पगडंडी पगडंडी

खेत खेत

घाटी–घाटी

पीले फुंदनों वाली सरसों तड़प उठी थी

:

तुम देख सकते हो

छपा है तभी से पीला फूल मेरी आँखों में

उभरा ही होगा

मेरी पीडा का दाग उस के सीने में।

'मुझ से छीन ली गयी मेरी नदी' अग्निशेखर की एक सशक्त रचना है। कवि ने अपने सांस्कृतिक विरसे के पीछे छूट जाने के एहसास को ऐतिहासिक सन्दर्भों की पृष्ठभूमि पर ईमानदारी के साथ व्यक्त किया है। 'छीन लेना' तथा छिन्नभिन्न होना – दोनों में स्पष्ट अंतर है। छीन लेने में शक्ति प्रयोग का संकेत है तथा 'छिन्न भिन्न' हो जाने में संयोगवश अथवा

बिना कारण घटना घट जाने की सम्भावना निहित रहती है। शताब्दियों से चले आये कश्मीर के राजनीतिक घटना–चक्र को यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाये तो अग्निशेखर के इस कथन की सार्थकता स्वतःसिद्ध होजाये गी:–

–'मुझ से छीन ली गयी मेरी नदी
बदल गया उस का नाम
:
एक दिन चुपचाप बदल दिये गये
मेरे सैंकडों गाँव के नाम
जैसे आँख मूँद कर पहुँचा दिया गया हो
किसी अरब–देश में
:
मुझ से छीन लिये गये धीरे–धीरे
मुस्कान, बर्फ, पहाडियाँ,
पेड़, मौसम, त्यौहार
और समूची मातृभूमि अबकी बार।''

स्वप्नभंग की स्थिति में व्यथा का गहन एहसास स्वंय व्यथा के लिये भी सहय् न रहा। 'भरत' वर्षों विस्थापित कैम्प में रह कर मानिसक पीडा के शिकार हुए। लगता है कि मातम भी कैम्प के मातमी माहौल से कांप उठा है। सर्वत्र निराशा घर कर गई और जीवन पथ पर चारो दिशाओं में विपत्ति के बादल गहनतम रूप में छा गय हैं। तम्बूनुमा घर में मौत को गले लगा कर जीवन जीने की पीडा जब उन्हें कुंठित कर देती है तो भीतरी अकुलोहिट को वाणी प्रदान करते हुए लिखते हैं :–

–'सुन कर मेरी व्यथा
व्यथा भी
व्यथित हो उठी

और पोंछने लगी
मेरी व्यथा को
अपनी व्यथा की आँखों से।''

'फिरन में छिपाए तिरंगा' काव्य–संग्रह पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए श्री अशोक वाजपेयी लिखते हैं :–

'निस्संदेह संग्रह प्रबुद्ध वर्ग को कश्मीर के सम्बन्ध में नए सिरे से सोचने पर विवश करे गा।

प्रत्यक्ष रूप में विस्थापित समाज और परोक्ष रूप में समस्त भारत आज विस्थापन के परिणाम स्वरूप गहन वेदना का शिकार हुआ है। परिणाम दूर गामी होंगे। जिन्हें श्रीनगर विरासत में मिला था वही आज दूसरों से पूछते हैं कि श्रीनगर का रास्ता कहाँ है। विभ्रम की अवस्था में श्रीनगर का मूल निवासी शंकालु हृदय से लोगों से पूछ बैठता है कि क्या सचमुच वह एक विस्थापित है – अपने ही देश में। अपने ही घर में बेघर। अपनी ही सम्पदाओं से वंचित और अपनी ही क्षमताओं से अनभिज्ञ। उस के इस प्रश्न में कोई अर्थ एक साथ ध्वनित होते हैं जब वह आते जाते व्यक्तियों से महाराज कृष्ण 'संतोषी' के माध्यम से पूछता है :–

–'क्या यह रास्ता
सचमुच ही श्रीनगर को जाता है
कैसा अचरज है
जिन्हें कभी विरासत में मिला था
श्रीनगर
वेही आज सब से पूछ रहे हैं
श्रीनगर का रास्ता।''

और श्रीनगर की वर्तमान स्थिति वस्तुतः श्रीहीन नगर की याद दिलाती है। एक उजड़ा हुआ शहर, खण्डहरों का शहर, तालाचन्द कंकालनुमा मकानों का शहर, ध्वस्थ देवस्थानों का शहर, स्वचालित शस्त्रों एवं

हथगोलों से बर्बाद हुआ शहर, दानवीय लीलाओं का शहर, सिविल करफ्यू का शहर लूटमार का शहर, जिस पर कवि संतोषी द्वारा लिखा गया शोकगीत जैनुलाब्दीन को श्री नगर के उजडने की सूचना इस प्रकार देता है :–

''श्रीनगर अब रहा नहीं
श्रीनगर
वितस्ता ढो रही है मैल
य फिर लाशें
भय पैदा कर रहे हैं
ये चिनार
बर्फ अपनी धवलता से
जगा देती है
कफन की स्मृतियाँ
:
तुम कहाँ हो जैनुलाबिदीन
देखो उजड रहा है
मेरा श्रीनगर।

विस्थापित समाज के बिखराव से क्षुब्द कवयित्री क्षमा कौल घर के उजडने की पीडा से विह्वल जिन्दा लाश के समान जीने की यातना को झेलते हुए अपनी खोयी हुई पहचान को तलाशने का भरसक प्रयास करते हुई लिखती है:–

–घर पानी में था? बह गया?
घर शिला पर था? ढह गया?
:
छत तो थी? होगी? या छलनी?
आंगन तो था? होगा? या असलेह काडेर?

:

सोचा था न कि बस कुछ दिनों की बात है

लौट आएं गे?

:

फिर मर गए? जिन्दा मर गए?

क्या हम जिन्दा हैं? अनुसंधान करो?

:

देखो पता करो – क्या हम जीवित हैं?

:

पता दो कहों है ? अनुसंधान करो?

उस मार्ग का – जहों धरती पर घर था –

जहां जड़े थी ....

पता करो ....।"

इस विस्थापन का बच्चों की सोच पर क्या प्रभाव पड़ा – बाल मनोवृति से जुडे अनेक बिम्ब सर्जमात्मक कलाकार के रचना कौशल से मूर्त हो उठे है। यथार्थ बोध के स्तर पर भी ये बिम्ब अपना स्थायी प्रभाव छोड़ देते है। बच्चें को चिन्ता है कि घर छोड़ते समय खिलौने घर पर ही रह गये। वह पापा से पूरी मासूमियत के साथ सवाल पूछता है –

'पापा अगर सब से तेज दौडता है मन

तो हम उसे इंजन के बदले

लगाये जहाज में

कितना तेज दौडे गा जहाज पापा

हम उस में चुपके से जाएं गे घर

और ले आएंगे अपने खिलौने

पापा क्या हमें फिर भी पकड पायें गा

उग्रवादी?

इतनी भयंकर स्थिति का सामना करने के बावजूद विस्थापन की कविता में सशक्त आशावादी स्वर सुनहरे कल का आश्वासन देता हुआ दिशाओं में गूंज रहा है। यह इस कविता का नवां आकर्षण है। रचनाकार के अदम्य उत्साह का सशक्त प्रमाण और जीवन को सकारात्मक रूप में स्वीकारने का दृढसकंल्प। तमस अन्धकार के पश्चात् विपत्ति के बादल अवश्य छंट जांएगें और पुनः होगा–उम्मीदों भरा सूर्यादय। अपने कल के जख्मों पर उम्मीदों की पट्टियों बान्धते हुए शांत पोथियां शीर्षक कविता में निजी सकल्प को वाणी प्रदान करते हुए लिखते हैं –

– 'कश्मीर
तुम मुझे तार तार कर सकते हो
पन्न पन्ना बिखेर सकते हो
पर मैं टुकड़ा टुकड़ा समेट कर जियूं गा
फिर सम्पूर्ण हो जाऊँगा
और तुम्हें फिर पाऊँगा।
:
जानते हो ?
घाटी के बाहर तुम को कैसे जी रहा हूँ
तुम्हारी पोथियों के बिखरे पन्ने कैसे सी रहा हूँ?

सुनहले कल की आशा भरत को इसप्रकार आशावान बना देती है :–

धुंध हटाता, फूलों को चुनता
माला गूंथता
आगे बढ़ता रहा –
एक अस्तित्व
संजोए
सुनहरे कल की आशा।"

सतीसर में ही जलोद्भव का पुनः विनाश होगा। पहले भी हुआ है और आज भी होगा। इतिहास अपने आप को दोहराता है अवश्य :–

चीथडे – चीथडे तुम्वुओं से एक दिन निकलेगी उन की आहों का ज्वार

और जलोदभव मारा जाए गा

उन के भीतर

उफनते सतीसर में ।''

सूर्यादय अवश्य होगा। संतोषी इस विश्वास के साथ उस के स्वागत में प्रतीक्षारत है। वर्तमान से वे क्षृब्ध एवं क्रुद्ध है लेकिन निराश नहीं :–

– 'यह मानते हुए कि उन के अधिकार में है

मेरा सारा आकाश

मुझे पूरा भरोसा है

इस बार सूरज मेरी नाभि से निकले गा

पहले से अधिक उज्जवल

अधिक ऊर्जावान।''

कश्मीर हमारा है – यह कोई रालनीतिक नारा नहीं अपितु एक ऐतिहासिक सच्चाई है। हंजारों वर्षो का प्राचीन इतिहास इस की गवाही दे रहा है। इस सच्चाई को नकारना आकाश की ओर मुहं करके थूकने के बराबर बेमानी होगा। शांत जी अपने संकल्प हो दोहराते हुए लिखत हैं :–

– कश्मीर !

तुम तोता चश्म हो सकते हो

पर संदियों से लिखे अपने ही अक्षरो की मीमांसा

नकार सकत हो?

मैं तुम्हारी ही पोथियों से

तुम्हें पाने की नई तिथियाँ

खोज लूँ गा।

इतना समझ लो, कश्मीर।''

विस्थापन की कविता में विस्थपित समाज के शक्तिहीन आध ाारहीन / दिशाहोन अस्तित्व का एहसास शिद्दत के साथ महसूस हो रहा है और यह इस कविता का दसवीं आकर्षण है। 'भरत' के शब्दों में कश्मीर की कश्मीरियत आज तम्बओं के तपे तवों पर एक जिन्दा मछली की तरह तड़प रही है। घर लौटने की आंस जब बुझ जाती है तो एक बूढा विस्थापित आंखों – आंखों में ही आकाश नापता हुआ दिखाई देता है। अग्निशेखर लिखते है :–

–'बूढा बिस्तर पर लेटे
आंखों– आँखों नापता है आकाश
फटें हुए तम्बू के सुराखों से
उस की झुर्रियों में गिर रही है समय की राख
चुपचाप घूम रही है
सिरहाने के पास
घड़ी की सूई
उस की बीत रही है
घर लौटने की आस।''

विस्थापन का जीवन जीते जीते कभी कभी आदमी की हिम्मत जवाब दे बैठती है। कदम कदम पर समस्याओं से जूझना तो ठीक था लेकिन दिशाहीन जीवन की विवशता को सहन करना असम्भव हो जाता है। निराशा घर कर जाती है, साहस का दम घुटता है और निश्चेष्ट जीवन जीने का एहसास मर्मान्तक पीडा का कारण बन जाता है। 'संतोषी' इस स्थिति में स्वंय अपने लिये एक शोकागीत का सर्जन करता है :–

–'मैं यह कैसा जीवन
व्यतीत करने लगा हूँ
कि अपने जीवित होने के सबूत
ढूढनें लगा हूँ

घड़ी की सूइयों के साथ
घूमते हुए भी लगता है
कि कहीं ठहर गया हूँ
जैसे काठ का कोई घोडा।''

विस्थापित समाज इस बात से भली भांति परिचित है कि उन की वर्तमान दुर्दशा के लिए उत्तरदायी कौन है। 'संतोषी' की एक 'मिनी' कविता इस संदर्भ में कई बिन्दुओं से विचारणीय है :–

–'टेबल पर
घुमा कर ग्लोब
कहा मेरी बेटी ने
पापा
क्या तुम कभी गए हो पाकिस्तान?
क्या पाकिस्तान में
मानसून
मुसलमान बन जाते हैं?
और मैं चुप
इतिहास को भूलने की
कोशिश कर रहा हूँ।''

विस्थापन की कविता में अभिव्यक्ति की हष्टि से एक विशेष आकर्षण कविता के 'मिनी' आकार में देखा जा सकता है। यह इस कविता का ग्यारहवाँ आकषर्ण है। 'मिनी' कविता समसामयिक हिन्दी कविता की एक विशेष उपलब्धि है। चिन्तन अथवा अनुभव के स्तर पर रचनाकार ब्रश के चन्द हल्के आघातों से ही किसी विशिष्ट मनःस्थिति को आकार प्रदान करता है। अभिव्यक्ति व्यंग्यात्मक भी हो सकती है, सांकेतिक भी अथवा प्रतीकात्मक भी। 'भरत' की 'वर्ष गांठ शीर्षक मिनी कविता, संतोषी की 'गरीबबच्चे' तथा अग्निशेखर की कविता 'थेडा सा आकाश' इस दृष्टि से

उल्लेखनीय है। तीनों में व्यंग्य का पुट बहुत गहरा है। 'भरत' विदेशी संस्कृति/आचार विचार पर चोट करते हुए लिखते हैं

—'हम वर्ष गांठ पर
आशीर्वचन पाते हैं।
वे दीये बुझा कर
रंग रलियां मनाते है।'

संतोषी' दरिद्र जीवन की विवशता पर तीखी टिप्पणी करते है :—

—'गरीब बच्चे
धूप से नहीं घबराते
वे डरते हैं ठंड से
जो सब को
उन के बदरंग स्वेटर
दिखलाता है।'

'अग्निशेखर' को गहन निराशा में नवप्रभात की कोई उम्मीद नहीं है :—

—'मेरी सोयी हुई माँ के चेहरे पर
किसी छिद्र से पड रहा है
थोडा सा प्रकाश
हिल रही है उस की पलकें
कौन कर रहा इस अन्धेरे में
सुबह की बात।''

इस प्रकार यह बात स्पष्ट होती है कि हिन्दी कविता की नव्यतम प्रवृत्तियों में विस्थापन की कविता का अपना विशेष महत्त्व है। देश के अन्य क्षेत्रों में रहने वाले हिन्दी कवि ने विस्थापन को लेकर बहुत कम लिखा है। इस के कई कारण हैं।

पिछले दिनों एक बार हिन्दी प्रदेश में एक हिन्दी प्रेमी सज्जन से मेरी मुलाकात हुई। कहने लगे – अरे ! अब तो कश्मीर की हालत बहुत

सुधर गई है। आप लौट क्यों नहीं जाते? मैं ने विनम्रता के साथ पूछा – आप को कैसे मालूम है कि कश्मीर में हालत सुधर गये हैं? तुरन्त उन्होंने अवसरवादी (तत्परता) के साथ उत्तर दिया – अरे भाई! कुछ ही दिन पहले बच्चे वैष्णोदेवी के दर्शन करके सकुशल लौटे। उन्हें कहीं भी किसी गडबडी की भनक तक न मिली। मै ने सिर झुका कर हामी भर ली। इस देश का यह बडा दुर्भाग्य है कि प्रादेशिक स्तरपर हम सचेत तो है लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर उतने ही उदासीन।

यह उन का भोगा हुआ यथार्थ नहीं। मनसः वे कश्मीर की सांस्कृतिक विरासत से जुड़े नहीं है। किसी महानगर की पॉश कालोनी में रहने वाली साहित्यकार को क्या मालूम कि 19 जनवरी 1990 ई॰ की रात कश्मीर घाटी के भीतर क्या हुआ। विस्थापन की पीडा को वही महसूस कर सकते हैं जिन्हों ने स्वंय इतिहास के किसी काल खण्ड में इस त्रासदी को झेला हो। सिन्धी और पंजाबी देशवासियों से पूछिये कि विस्थापन किसे कहते हैं?

प्रदेश के हिन्दी कवि ने जिस तत्परता के साथ अपने भोगे हुए यथार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान की है उसका बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक की हिन्दी कविता में न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व है अपितु सर्जन के स्तर पर कथ्य और शिल्प की दृष्टि से भी अपनी विशिष्ट पहचान है। इसे कोई अतिश्योक्ति न समझे अपितु अहिन्दी भाषी हिन्दी कवि के जीवित होने का यह प्रमाण है और अहिन्दी भाषी हिन्दी कवि के बिना राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी कविता अपूर्ण है।

रचनाकारों का परिचय

रचनाकारों का परिचय

डा शशि शेखर तोषखानी

जन्म 1934 कश्मीर

प्रकाशित पुस्तकें:–

'थोड़ा सा आकाश' (कविता संग्रह)।

कशमीरी साहित्य का इतिहास (आलोचना)

आदि कवयित्री लल्ल द्यद पर अंग्रेज़ी में एक पुस्तक सम्पादित।

अनेक पुस्तकारों से सम्मानिता

डा रतन लाल शांत

जन्म 1938 कशमीर

प्रकाशित पुस्तकें :– 'खोटी किरणें'

'सपना अबी भी'(कविता संग्रह)

कशमीरी में कई कहानी संग्रह प्रकाशित

'समय के तेवर(आलोचना)

साहितय अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत ।

हरिकृष्ण कौल

जन्म 1935

हिन्दी और कश्मीरी में समानरूप से लेखन।

प्रकाशित पुस्तकें

'टोकरी भर धूप'

'अर्थी '

'इस हम्माम में '

व्यथ–व्यथा (उपन्यास)

साहित्य अकादेमी पुरस्कार से पुरस्कृत।

मोती लाल क्यमू

जन्म 1933 कशमीर ।

कशमीरी में अनेक नाटक प्रकाशित

कई नाटकों का हिन्दी में अनुवाद।

प्रमुख नाटक – नगर उदास

भांड़ दुहाई, अंतःपुर का दर्पण ।

साहित्य अकादमी तथा ललितकला अकादमी से पुरस्कृत।

पृथवी नाथ मधुप

जन्म कशमीर

कई कविता संग्रह प्रकाशित

प्रसिद्ध एतिहासिक चरित्र सुयया पर एक खंड़काण्य हाल में प्रकाशित।

कई पुरस्कार तथा सम्मान।

अग्निशेखर

जन्म 1955 कशमीर ।

प्रकाशित पुस्तकें

किसी भी समय

मुझसे छीन ली गई मेरी नदी

काल वृक्ष की छाया

गिरिजा कुमार माथुर पुरस्कार तथा हिन्दीतर हिन्दी लेखक पुरस्कार

क्षमा कौल

जन्म कशमीर

प्रकाशित पुस्तकें

समय के बाद मेरी डायरी

बादलों में आग

र्ददपुर उपन्यास पर काफी प्रशंसा मिली।

हिन्दीतर लेखक पुरस्कार तथा अन्य कई सम्मान।

महाराज कृष्ण संतोषी

जन्म 1954 कश्मीर ।

प्रकाशित कविता संग्रह

इस बार शायद

बर्फ पर नंगे पांव

यह समय कविता का नहीं

वितस्ता का तीसरा किनारा

कई कहानियां भी प्रकाशित।

जम्मू–कशमीर कल्चरल अकादमी से पुरस्कृत।

डा भूषण लाल कौल

जन्म कश्मीर ।

आलोचक तथा प्रसिद्ध वक्ता।

कश्मीरी और हिन्दी में कई आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित।

कश्मीर के जलावतन साहित्य पर विशेष लेखन।

कई पुरस्कारों से सम्मानित जिन में प्रमुख हैं जम्मू कश्मीर राज्य का साहित्य पुरस्कार।

चंद्रकांता

जन्म कश्मीर ।

प्रसिद्ध कथाकार तथा उपन्यासकार

प्रमुख कृतियां

एलान गली ज़िंदा है

कोणार्क

सतीसर गाथा।

अखिल भारतीय स्तर पर कई पुरस्कार। जिन में प्रमुख हैं व्यास सम्मानः

डा महाराज कृष्ण भरत

जन्म 1964 कश्मीर ।

फिरने में छिपाए तिरंगा कविता संग्रह

पर काफी प्रशंसा अर्जित की।

कश्मीर के निर्वासन साहित्य पर शोध ।

'नींव तुझे नमन' नवीनतम कविता संग्रह प्रकाशित।

केंद्रीय हिन्दी निदेशालय,नई दिल्ली तथा उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान से पुरस्कृत।

डा संजना कौल

जन्म कश्मीर ।

जम्मू के एक कालेज में हिन्दी पढ़ाती हैं।

हिन्दी उर्दू तथा अंग्रेज़ी भाषाओं के साहित्य का गहन अध्ययन।

प्रकाशित कृतियां

'पाषाणयुग' उपन्यास

काठ की मछलियां – कहानी संग्रह।

अवतार कृष्ण राज़दान

जन्म कश्मीर ।

कश्मीरी और हिन्दी दोनो भाषाओं में लेखन।

कई कहानी संग्रह प्रकाशित।

डा रोशन सराफ़

मूलतः कश्मीरी कवि। अंग्रेज़ी और हिन्दी में भी यदाकदा कविताएं लिखते हैं।

अंग्रेज़ी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित।

प्रदीप कौल

जन्म कश्मीर ।

प्राचीन संस्कृति तथा साहित्य पढ़ने में गहरी रूचि ।

अखबारों तथा पत्रिकाओं में कई लेख प्रकाशित।

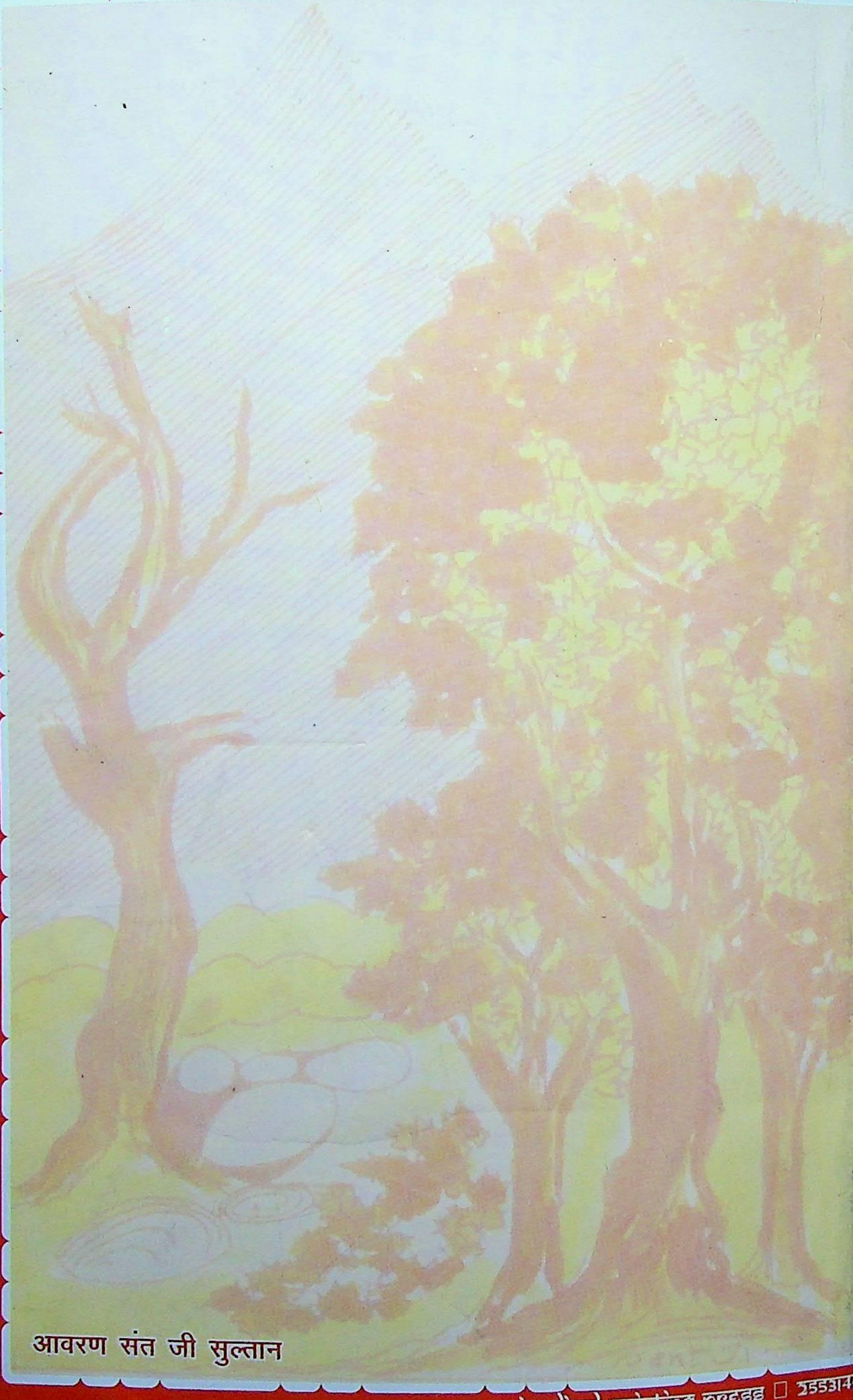
संस्कृत कवि क्षेमन्द्र पर एक पुस्तक प्रकाशित।

श्याम बिहारी

जन्म 1950।

साहित्य और दर्शन पढने में गहरी रूचि।

'मैं समुद्र ही हो सकता था' कविता संग्रह प्रकाशित



आवरण संत जी सुल्तान

jandiyal printing press □ 255314